जाति, राष्ट्र और संस्कृति

लेखक

धर्मसम्राट पूज्य स्वामी श्री करपात्रीजी

: प्रकाशक :
श्री सदानन्द सरस्वती
"वेदान्ती स्वामी"
श्री करपात्रीधाम, केदारघाट,
वाराणसी

प्रकाशक :

श्री सदानन्द सरस्वती वेदान्ती स्वामी
श्रीकरपात्रीधाम
केदारघाट, वाराणसी

द्वितीय संस्करण : दो हजार
अगस्त : १९८७
मूल्य : ४ रुपया

मुद्रक :
वीरेन्द्र प्रसाद पाण्डेय
शारदा प्रिण्टर्स
केदारघाट, सोनारपुरा
वाराणसी

सम्पादकीय

वर्तमान समय में 'हिन्दू-संस्कृति की सुरक्षा' के नाम पर कुछ लोग कार्य कर रहे हैं, यह अत्यन्त शुभ-लक्षण है। लेकिन हिन्दू तथा संस्कृति का वास्तविक स्वरूप समझे बिना परिणाम हितकर न होकर अहितकर ही हो सकता है। संस्कृति के अङ्गभूत जाति के वास्तविक स्वरूप को ही अपमानजनक समझा जाता है। संस्कृति के लिए सर्वस्व त्याग करनेवाले श्रीगोलवर-करजी जैसे विद्वान् कार्य के साथ विचार का महत्व मानते हुए भी इन मूलाधारों के विषय में अत्यन्त भ्रामक मत रखते हैं। फलतः उनका सांस्कृतिक स्वरूप प्रतिक्रिया-मूलक होकर हानिकारक भी हो सकता है।

यह महान् सौभाग्य की बात है कि पूज्यपाद श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज ने देश के इस संक्रमण-काल में अन्य कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी इधर ध्यान दिया है। प्रस्तुत पुस्तक में जाति, संस्कृति, राष्ट्र और हिन्दुत्व के वास्तविक स्वरूप को सामने रखते हुए इनके विषय में भ्रान्त धारणाओं का खण्डन भी किया गया है।

आशा है, पाठकों को जाति, राष्ट्र, संस्कृति तथा हिन्दुत्व का सम्यक्रूप समझने में सहायता मिलेगी।

श्री सदानन्द सरस्वती वेदान्ती स्वामी
(अध्यक्ष—रामराज्य परिषद्)

अनुक्रमणिका

★ श्रीहरिः ★

हमारी राष्ट्रीयता

'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' तथा 'जनसंघ' के प्रमुख नेता श्रीगोलवलकरजी की 'विचारदर्शन' तथा हमारी राष्ट्रीयता' नामक पुस्तकें देखने का अवसर मिला। इन पुस्तकों में माननीय लेखक महोदय ने राष्ट्रीयता के मूलभूत—देश, जाति, धर्म, संस्कृति एवं भाषा को मानकर उनपर विचार प्रकट किये हैं। संक्षेपतः उनपर हमें भारतीय शास्त्रों की दृष्टि से कुछ विचार करना आवश्यक प्रतीत हो रहा है।

जाति

जाति के सम्बन्ध में श्रीगोलवलकरजी ने जो धारणा प्रकट की है, वह स्पष्ट है। उनका कहना है कि "जाति एक परम्परा समाज को कहते हैं, जिसके आचार, भाषा तथा वैभव अथवा विनाश की स्मृतियाँ समान होती हैं। संक्षेप में यह एक जन-समुदाय होता है, जिसका उद्भव समान एक संस्कृति की छाया में होता है। इस प्रकार की जाति को राष्ट्र का एक अङ्ग कहते हैं।"

वस्तुतः जाति की जो भी शास्त्रीय परिभाषाएँ हैं, उनसे उपर्युक्त परिभाषा का कोई मेल नहीं मिलता। आचार, भाषा, कला आदि परिवर्तनशील वस्तुएँ, उसके आधार पर नित्य वस्तु जाति निर्भर नहीं कही जा सकती। हिन्दुओं के

आचार तथा भाषा में परस्पर महान् भेद है। एक ब्राह्मण तथा क्षत्रिय के आचारों में बड़ा अन्तर है। 'संस्कृत भाषा ही सबको भाषा है' यह कहना प्रत्यक्ष विरुद्ध है। शास्त्र की दृष्टि से भी संस्कृत द्विजातियों की ही भाषा कही गयी है। कई लोगों के लिए तो संस्कृत शब्दों का उच्चारण भी निषिद्ध है— **"नोच्चरेत् संस्कृतां गिरम्"** (स्कन्दपुराण)। यही कारण है कि नाटकों मे प्राकृत का प्रयोग अबाध रूप से होता है। अतएव धर्म के आधार पर ही 'हिन्दूजाति' का व्यवहार उपयुक्त है। 'कुरान' के अनुसार जैसे इस्लाम-धर्मानुयायी मुसलमान होता है, 'बाइबिल' के अनुसार जैसे ख्रिस्त-धर्मानुयायी ईसाई होता है, वैसे ही हिन्दू-शास्त्र—वेद एवं वेदानुयायी आर्ष धर्म-ग्रन्थों के अनुसार हिन्दू-शास्त्रोक्त धर्मविश्वासी ही होता है। यही एक ऐसी परिभाषा है, जिसके अनुसार हिन्दूजाति की सभी श्रेणियाँ उसमें अन्तर्गत हो सकती हैं। साथ ही अन्यान्य चाहे जो कोई लोग भी हिन्दूजाति के भीतर एक अन्त्यज या मानव श्रेणी में आ सकते हैं, यद्यपि 'जन्मना वर्ण' व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मणादि श्रेणियों में किसी अन्य का सन्निवेश नहीं हो सकता।

श्रीगोलवलकरजी लिखते हैं कि "चाहे उस (राष्ट्र) में कुछ लोगों का मूल विदेशी ही हो, उन्हें इस मातृजाति में इस प्रकार मिल जाना चाहिये कि जो अलग किया ही न जा सकें। उन्हें मौलिक राष्ट्रीय जाति के साथ केवल आर्थिक, राजनीतिक जीवन में ही एक होना आवश्यक नहीं, वरन् उसके धर्म, संस्कृति और भाषा में भी एक हो जाना चाहिये। अन्यथा वे राष्ट्र-कलेवर का अङ्ग नहीं हो सकते। यदि मातृजाति नष्ट हो जाती है, तो उन मनुष्यों का नाश होने पर—

जिनके सम्बन्ध से वह बनी है—अथवा उसके आधारभूत सिद्धान्तों तथा धर्म-संस्कृति के नाश हो जाने पर तो राष्ट्र का स्वतः अन्त हो जाता है।"

वस्तुतः **'आकृतिग्रहणा जातिः'** (म० भाष्य ४/१/६३) अर्थात् अनुगत एकप्रत्ययगम्य संस्थान—आकृति—व्यङ्ग्य या उपदेशगम्य जाति शरीर के रहते हुए वह बदल नहीं सकती। मृत श्वान के शरीर को भी श्वान ही कहा जाता है। इस प्रकार की जाति में अन्य जाति के लोगों का सन्निवेश किस तरह हो सकता है, यह विचारणीय है। गोलवलकर जी ने **'समानप्रसवात्मिका जातिः'** इस परिभाषा पर बड़ा जोर दिया है, लेकिन वह मात्र कल्पना है। उनकी दृष्टि से इस न्यायसूत्र के अनुसार एक प्रकार के जन्मवाले एक जाति के समझे जाने चाहियें। परन्तु वनस्पति और पशु दोनों प्रकार के प्राणी किसी न किसी प्रकार अपने पूर्वज के शरीर से उत्पन्न होते हैं, फिर तो सबकी जाति एक ही होगी माता-पिता के शुक्र-शोणित से सबकी उत्पत्ति होती है, अतः मनुष्य सिंह, साँप सभी को एक जाति का माना जाना चाहिये। कुछ संकीर्ण दृष्टि से देखने पर दूध पीनेवाले मनुष्य, कुत्ते, ऊँट, चूहे, गधे आदि में भी प्रसवभेद नहीं दिखाई देता। फिर तो किसी की पृथक्-जाति-कल्पना ही नहीं होनी चाहिये। वस्तुतः उन न्याय सूत्र का अर्थ यह है कि समानबुद्धि का प्रसव करने वाला गोत्व आदि धर्म ही जाति है उसी के द्वारा गौः गौः इत्याकारक समान बुद्धि सर्व जो व्यक्तियों में होती है।

'विचारदर्शन' पुस्तक में वर्ण-व्यवस्था की बात मानी गयी है और वर्ण-व्यवस्था के अनुसार 'ज्ञानदान, शत्रु संहार, कृषि-वाणिज्य' आदि कर्मों की व्यवस्था भी मानी गयी

है। परन्तु इतना ही नहीं, जीविकार्थ कर्मों के अतिरिक्त अदृष्टार्थ भी अनेक कर्म होते हैं। उनमें व्यवस्था है। याजन, अध्यापन, प्रतिग्रह, वाजपेयादि ब्राह्मणों के कर्म हैं। यजन, अध्ययन, दान तथा राजसूय, वैश्य आदि का अधिकार है।

कहा जाता है कि 'संघी एवं सभाई दोनों ही वर्णाश्रम धर्म को मानते हैं।' परन्तु वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। एक ओर वे राम, कृष्ण आदि अवतारों को भी मानते हैं, मन्दिर-प्रवेश, मूर्ति-पूजन आदि का समर्थन करते हुए अपने को 'सनातनी' कहते हैं, और दूसरी ओर "जन्मना वर्ण" व्यवस्था न मानकर 'कर्मणा वर्ण' व्यवस्था का पोषण करते हैं। श्रीगोलवलकरजी तथा हिन्दू-सभा जन्मना मुसलमानों को शुद्धि द्वारा हिन्दू बना लेने के पक्ष में हैं। इनके अनुसार कोई भी शुद्ध मुसलमान ब्राह्मण, क्षत्रिय बन सकता है। जन्मना ब्राह्मण के साथ विवाहादि कर सकता है। इस प्रकार रक्त सांकर्य तथा वर्ण-सांकर्य होना स्वाभाविक है। श्रीकृष्ण एवं कौटिल्य वर्णसंकरता को राष्ट्र-विप्लवकारी तथा कुल-विनाश कारी बतलाते हैं। श्रौत-स्मार्त सभी धर्म-कर्म 'जन्मना वर्ण' मूलक ही है। कर्मणा वर्णव्यवस्था अनिश्चित एवं अव्यवस्थित है। दिनभर में कितनी ही बार वर्णव्यवस्था बदल सकती है। घर की सफाई करते हुए अन्त्यज, घर का काम करते हुए शूद्र, सौदा खरीदते हुए वैश्य, कुत्ता हटाने के लिए दण्ड हाथ में लेते ही क्षत्रिय, पूजा-पाठ करते हुए ब्राह्मण बन जाना सहज बात है (१)।

धर्म और संस्कृति

धर्म तथा संस्कृति के सम्बन्ध में श्रीगोलवलकरजी का कहना है कि "वह जहाँ जनता का प्राण है, जहाँ वह व्यक्ति एवं समाज के सारे कर्मों का समान रूप से नियन्त्रण करता है,

वहाँ धर्म और संस्कृति का विवेचन कठिन है।" परन्तु वे धर्म की स्पष्ट परिभाषा नहीं बतलाते। संस्कृति के सम्बन्ध में उनका कहना है कि "युगों से चले आये आचार, परम्पराएँ, ऐतिहासिक तथा अन्य अवस्थाएं एवं धार्मिक विश्वास और तदनुगामी दर्शन का सामाजिक मस्तिष्क पर बढ़ता हुआ प्रभाव संस्कृति होती है। एक विचित्र जातिभावना का (जिसकी व्याख्या करनी कठिन है) सृजन करते हुए यह मुख्यतया उसी धर्म तथा दर्शन का स्पष्ट फल होती है, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी उस जाति की चेतना पर अपनी विशेष मुद्रा अङ्कित करते हुए सामाजिक जीवन का नियन्त्रण करती है।" परन्तु वे यूरोपिय धर्म को ऐसा नहीं मानते। अतएव वहाँ धर्म भिन्न ही संस्कृति है। उनका कथन है कि "यूरोप में ईसाई धर्म सबका समान होने पर भी विशेष संस्कृति जातीय भावना का विकाश करती है। प्रत्येक जाति उस विभिन्न आकृति पर अभिमान करती है और अत्यन्त उद्योग से उसकी रक्षा करती हैं। इस तरह धर्म जहाँ विभेदकारी नहीं होता, वहाँ संस्कृति ही राष्ट्र भावन के अन्य आवश्यक तत्त्वों के साथ विशिष्ट राष्ट्रीयता के निर्माण में एक निर्णायक वस्तु बन जाती है" (पृ०-३८-३९)। इन बातों से श्रीगोलवलकरजी के धर्म और संस्कृति सम्बन्धी भावों पर प्रकाश पड़ता है।

वस्तुतः जबतक प्रत्यक्ष, अनुमान तथा निश्चित आगम या शास्त्र के प्रामाण्य का विचार न हो, तबतक धर्म एवं संस्कृति सम्बन्धी सभी कल्पनाएँ निराधार रहती हैं। कितने ही अन्ध विश्वास, अन्ध-परम्पराएँ तथा रूढियाँ हैं, जिनका परित्याग

---

(१) जाति का संक्षिप्त विवेचन अध्याय चार में किया गया है। विस्तृत अध्ययन के लिए पढ़िये—'सिद्धान्त', वर्ष २ के १७, १९, ३०, ३१, ३६ अंक।

करना अभीष्ट समझा जा रहा है। फिर केवल परम्पराओ एवं विश्वासों के आधार पर धर्म या संस्कृति का निर्णय किस तरह किया जा सकता है ? इतिहास भी सब ग्राह्य नहीं होते, क्योंकि इतिहास तो सम्पत्ति-विपत्ति, पुण्य-पाप सभी तरह का होता है। किसी भी समाज में भली-बुरी सभी तरह की घटनाएं घटती हैं। उनमें से न सभी उपादेय होती हैं, न सभी त्याज्य ही।

संस्कृति की परिभाषा में, 'युगों से चले आये आचारों परम्पराओं, ऐतिहासिक तथा अन्य अवस्थाओं एवं धार्मिक विश्वास तदनुगामी दर्शन के सामाजिक मस्तिष्क पर बढ़ते हुए प्रभाव' को 'संस्कृति कहा गया है। एतावता 'सामाजिक मस्तिष्क पर बढ़ता हुआ प्रभाव स्वतन्त्र रूप से संस्कृति है। 'परम्परा प्राप्त आचार' स्वतन्त्र रूप से संस्कृति हैं। परम्पराएं तथा ऐतिहासिक एवं अन्य अवस्थाए' स्वतन्त्र रूप से संस्कृति है। यहाँ 'युगों से चले आये आचारों' से भिन्न परम्पराएं क्या हैं ? एवं ऐतिहासिक तथा अन्य आवश्यकताएं' क्या हैं ? इन सबका कुछ भी स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। साथ ही यह सब 'संस्कृति' शब्द का अर्थ क्यों हैं, इस सम्बन्ध में भी किसी भी प्रकार के प्रमाण का उपन्यास नहीं किया गया है, जिससे सभी बातें निराधार एवं अप्रमाणिक सिद्ध हो जाती हैं।

यद्यपि उक्त पुस्तक में अनेक स्थानों में वेद, रामायण महाभारत तथा ऋषियों का नाम आदर से लिया गया है, तथापि तदनुसार आचार, विचार, वर्णाश्रम-व्यवस्था का 'संघ में कोई आदर नहीं है। 'संध्या' तक में प्रवृत्त नहीं है। बल्कि वर्णाश्रम-व्यवस्था के विरुद्ध शूद्र-अन्त्यजों का स्पृष्ट भोजन-पान आदि तो 'संघ' में अत्यन्त प्रसिद्ध एवं आदृत है।

श्रीगोलवलकरजी जो लिखते हैं कि "हिन्दुस्तान में तो धर्म एक सर्वव्यापी सत्ता है, यह जीवन के सुदृढ दर्शन की अटल नींव पर स्थित है। अतएव जाति के जीवन में अनन्त काल से एकाकार हो गया है।" परन्तु यह क्या है, इसे स्पष्ट नहीं किया गया। इतना ही नहीं, आप लिखते हैं कि "जीवन का प्रत्येक कर्म, चाहे वह व्यक्तिगत हो अथवा जातिगत अथवा राजनीतिक हो, सब धार्मिक आदेश पर होता हैं।" यदि युद्ध करना या शान्ति स्थापित करना, कला या उद्योग, धनसंग्रह या दान, मरना-जीना सब कुछ जिसके आदेश पर होता है, तो वह फिर अज्ञात क्यों? क्या उस धर्म का स्वरूप सब लोग जानते हैं और सबका जीवन-मरण धर्मानुसार हो है? यदि हाँ तो यह भीषण पतन क्यों?

इतना ही नहीं, वे यह भी लिखते हैं कि "स्वतः हम वही बन गये, जो हमारे धर्म ने हमें बनाया।" क्या सचमुच हम जैसे बनेहैं? धर्म ने ही वैसा बनाया है? यह धर्म का गोरखधन्धा विचित्र है! आगे उनका कहना है कि 'हमारी जातीय भावना हमारे धर्म की सन्तान और इस प्रकार हमारी संस्कृति, हमारे सर्वव्यापी धर्म की प्रसूति एवं उसके कलेवर का एक अविभेद्य अङ्गमात्र है।" बिना प्रमाण के मनमाना कुछ लिखना, कहना आजकल का फैशन हो गया है, इसीलिए निराधार कार्य-कारण भाव, जन्य-जनकभाव की भी कल्पना होती है। ऐसी असम्बद्ध बातों पर क्या विचार किया जाय?

यद्यपि 'धर्म व्यक्तिगत वस्तु है, उसका राजनीतिक जीवन में कोई स्थान नहीं होना चाहिए' इस पक्ष का हम भी खण्डन करते हैं। परन्तु वस्तुतः धर्मों के अनुष्ठान में प्रवृत्ति तो व्यक्तिगत रूप से मान्य है। अतएव देश, काल, नाम, गोत्रादि के उच्चारणपूर्वक ही धार्मिक कृत्यों का अनुष्ठान होता है।

कहा जाता है कि "साररूप में धर्म तो समाज के सारे कर्मों का उचित रूप से परिचालन करते हुए प्रत्येक व्यक्ति के स्वभाव के लिए अवकाश रखता है तथा प्रत्येक प्रकार के मानसिक ढाँचे ग्रहण करने के लिए उचित मार्ग प्रदान करता है। साथ ही जो सम्पूर्ण समाज को सदाचार के द्वारा भौतिक से आध्यात्मिक स्तर पर उठाकर पहुँचा देता है।" जान पड़ता है श्रीगोलवलकरजी का धर्म वर्णाश्रमानुसारी श्रुति-स्मृतिबोधित धर्म से कोई विलक्षण ही है। वस्तुतः व्यक्तियों का समुदाय ही समाज है। अतः व्यक्ति के उत्थान से ही समाज का उत्थान होना सम्भव होता है। व्यक्तिगत रूप से ही अनुष्ठित धर्म व्यक्ति का उत्थान करता है। यदि व्यक्तियों के समुदाय नेअनुष्ठान किया, तो समाज का भी उत्थान होता है। समाज में भी ब्राह्मणादि जातियों को ही उद्दिष्ट करके वे धर्म विहित हैं, अविशेषेण धर्म का विधान नहीं है। समान्य धर्म अवश्य मनुष्य मात्र के लिये निहित है।

उनका यह भी कहना है कि "जिस प्रकार अनेक मस्तिष्क होते हैं, उसी प्रकार अनेक मार्ग भी होते हैं। यही धर्म का आध्यात्मिक नियम है। यह सांसारिक अथवा भौतिक स्तर में में भी प्रत्येक मनुष्य की मनुष्यता के पूर्ण आकारपर्यन्त विकसित होने के लिए अवसर प्रदान करने की क्षमता रखता है। साथ हो उस उच्चतम आध्यात्मिक जीवन तथा अनन्त आनन्द की प्राप्ति के पथप्रदर्शन एव नेतृत्व के लिए अपने कार्य में क्षणभर के लिए विरत नही होता है। ऐसा धर्म उपेक्षित नहीं हो सकता है।" वस्तुतः शास्त्रों की दृष्टि से कर्म धर्म है। धर्म संस्कार द्वारा, फल द्वारा भले ही प्रेरक हो; स्वयं तो वह अनुष्ठेय है। धर्म की उपयुक्त व्याख्या इस तरह निश्चित धर्म

के सम्बन्ध में दूर से सुनने वाले ही करते हैं। व्यक्तियों का समुदाय ही समाज है, यह पहले कहा जा चुका है। उसी के लिए राजनीति होती है। व्यक्तियों एवं समाज के लाभार्थ ही धर्म है और राजनीति भी है। अतः जो धर्म व्यक्तियों एवं समाज को उपेक्षित है, धर्म की विरोधिनी नीति कभी भी आदरणीय नहीं हो सकती। बल्कि धर्म का ही नियन्त्रण राजनीति पर होता है।

श्रीगोलवलकरजी का कहना सच है कि "राजनीति भी धर्म का एक छोटा सा अंशमात्र है हम अपने राष्ट्रीय जीवन में धर्म को नहीं छोड़ सकते हैं।" आश्चर्य है कि श्रीगोलवलकरजी वेद एवं रामायण तथा महाभारत का भी नाम लेते हैं, धर्म का भी महत्व वर्णन करते हैं। परन्तु फिर भी 'धर्म' नाम से प्रसिद्ध क्रियाओं के प्रति उन्हें कोई आदर नहीं। प्रत्युत उसके विपरीत ही चेष्टा का प्रचार उनके वहाँ चलता है। शास्त्रानुसार उपनयनादि संस्कारों, शास्त्रानुसार ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के नियमों की उपेक्षा, खान-पान, विवाहादि में शास्त्रीय व्यवस्था की उपेक्षा भी स्पष्ट लक्षित होती है। वस्तुतः आजकल के लोग धर्म को बहुत दुरूह बतलाकर 'धर्म' नाम से प्रसिद्ध क्रियाओं की ओर दुर्लक्ष्य करना चाहते हैं। वे कहा करते हैं कि "खाने-पीने, विवाह-शादी से धर्म का क्या सम्बन्ध है ? धर्म कोई कच्चा धागा नहीं, जो खान-पान से टूट कर नष्ट हो जाय।" बस, इसी दृष्टि से धर्म की बड़ी बड़ी बातें करते हुए भङ्गी, चमार सबकी रोटी खाने में सङ्घी लोग धर्म की हानि नहीं समझते। होटल की बनी चाय, बिस्कुट पीना-खाना, संसारभर के जूठे चीनी-मिट्टी के बर्तनों में खाना अनुचित नहीं समझते। सन्ध्या, सूर्यार्घ्यदान, वैश्वदेव, श्राद्ध, तर्पण, अग्निहोत्रादि तथा शास्त्रोक्त आचारों की उपेक्षा करते हैं।

शास्त्रों में धर्म का लक्षण करते हुए बतलाया गया है कि जिससे ऐहिक-पारलौकिक अभ्युदय तथा निःश्रेयस (मोक्ष) का साधन हो और समाज का, व्यक्तियों का धारण-पोषण हो वह धर्म है—"**यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।**" (वै. सू. १/१/२) इस प्रकार यद्यपि धर्म का तटस्थ-लक्षण पूरा हो जाता है, तथापि जबतक स्वरूप-लक्षण प्रतिपादित नहीं होता, तबतक धर्म के सम्बन्ध में सन्देह बना ही रहता है कि 'वे अभ्युदय-निःश्रेयस किससे मिलते हैं?' इस प्रश्न के समाधान के लिए ही महर्षि जैमिनि ने बतलाया कि 'प्रवर्तक निवर्तक वेदवाक्यों द्वारा लक्षित अर्थ हीं धर्म एवं अधर्म है। **चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।**" (पू. मी. १/१/२) अतएव शास्त्र-गम्य कर्म ही वस्तुतः धर्म है एवं शास्त्रनिषिद्ध कर्म ही अधर्म है।

श्रीगोलवलकरजी यह भी कहते हैं कि "यूरोप में एक ही धर्म है। प्रकृत्या धर्म वहाँ विभेदकारी जातीयता का निर्माण नहीं करता। इसी कारण वहाँ राष्ट्रों में कलह, युद्ध एवं शांति के किसी कार्य में धार्मिक उत्साह कोई प्रेरणा नहीं करता। ऐसी परिस्थितियों में जाति, संस्कृति और सम्भवतः भाषा की विभिन्नता होने के कारण राष्ट्रीय भेदभाव उत्पन्न होते हैं।" यह कथन भी आंशिक ही सत्य है, क्योंकि हिन्दूधर्म में भी ईश्वर की आराधना और पूजा को मुख्य धर्म माना गया हैं—"**सवै-पुंसां परोधर्मोयतो भक्तिरधोक्षजे** (श्री.भा. १/२/६)।" मुस्लिम-धर्म तथा ईसाई-धर्म में धर्म के नाम पर जो संगठन है वह हिन्दूधर्म में परिलक्षित नहीं होता। ईसाई तथा मुसलमानों में अपने धर्मग्रन्थ एवं धर्म में जो दृढता है, वह आज गोलवलकरजी के अनुयायियों में नहीं। स्वयं श्रीगो-लवलकरजो किसी भी एक ग्रन्थ को साङ्गोपाङ्ग मानने को

तैयार नहीं। वे तो शास्त्रोक्त धर्मों को 'दकियानूसी' कहने का भी साहस करते हैं। शास्त्रोक्त मंदिर-मर्यादा को नष्ट करने पर तुले ही रहते हैं। समाजवादियों की तरह सङ्‌घी भी मन्दिरों में भङ्गियों को घुसाकर मन्दिर-मर्यादा नष्ट करना चाहते हैं।

"रूस का समाजवाद भी धर्म है" यह श्रीगोलवलकरजी का नया 'इलहाम' मालूम पड़ता है। जो प्रत्यक्ष ही धर्मविरोधी हैं, उनके मत्थे भी—उनके यथेष्टाचार को ही 'धर्म' कहकर—लादना कहाँ तक उचित है? वह धर्म तो वैसा ही है, जैसा कि 'भट्टिकाव्य' में किसी राक्षस का कथन है कि 'ब्राह्मणों, गौओं आदि को मारना, यज्ञविध्वंस करना हमारा धर्म है।

श्रीगोलवलकरजी का कहना है कि "यूरोप में राजनीतिक परिवर्तनों से धार्मिक स्थिति में परिवर्तन नहीं हुआ।" परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जड़वादी, भौतिकवादी, मार्क्सवादी राजनीति से अवश्य ही धार्मिक भावनाओं का बाध होता है। व्यक्तिगत भूमि, सम्पत्ति आदि न रहने से यज्ञ, दान, तप आदि सभी धर्मों पर प्रत्यक्ष आक्रमण होता है। शास्त्र भी दण्डनीति में गड़बड़ी होने से त्रयी (वेद) एवं त्रयीप्रोक्त धर्म का सर्वथा संकट में पड़ जाना बतलाते हैं—**मज्जेत् त्रयी दण्डनीतौ हतायाम्।**" (म० भा० शा० व० ६३/२८)

राष्ट्रीयता

देश, जाति, धर्म, संस्कृति और भाषा यह पाँच वस्तुएं यद्यपि आदर की पात्र हैं; तथापि 'राष्ट्रियता की ये ही मूल-वस्तु' हों, यह आवश्यक नहीं! अल्पसंख्यकों की समस्या का विचार 'जब एक देश में किसी एक धर्म के लोगों का बाहुल्य तथा भिन्न धर्म के लोग अल्पसंख्यक हों, तो भी उठता है। ब्राह्मण, क्षत्रियादि में भी बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक हैं। शैवों-

वैष्णवों, हिन्दुओं-जैनों के भेद में भी अल्पसंख्यक-बहुसंख्यक होने का प्रश्न उठता है। मुसलमानों में भी शिया-सुन्नियों में अल्पसंख्यक-बहुसंख्यक का प्रश्न उठता है। माना कि किसी देश में जड़वादियों का ही बाहुल्य हो, तब भी वहाँ अल्पसंख्यकों का प्रश्न उठ सकता है। इङ्गलैंड में प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदाय का ही राज्य होता है। सरकारी कोष से ईसाईयत का प्रचार होता है। अंग्रेजी भाषा को अन्तरराष्ट्रीय भाषा बनाने का निरन्तर प्रचार चलता है। जर्मनी ने अपनी भौगोलिक राष्ट्रीय एकता का प्रयत्न किया। आस्ट्रिया ने—जो कि जर्मनी का ही एक प्रान्त था—प्रशिया, वेवेरिया तथा जेकोस्लोवाकिया आदि का नया राष्ट्र बनाकर जर्मन जाति के पैतृक देश का अपहरण किया था। जर्मनी ने तीव्र प्रयत्न से अपने पैतृक देश पर पुनः अधिकार कर लिया, अपनी भाषा में दृढ़ता का प्रयत्न किया और यहूदियों को 'अनार्य' कहकर अपने देश से निकाल बाहर किया। भाषा को भी मुख्यरूप से राष्ट्रीयता का आधार कहा जाता है। परन्तु भारत में भाषा का भेद उनके मन्तव्य के स्पष्टरूप से विरुद्ध है। उनका यह भी कहना है कि "हमारी भाषा में भेद का बोधक कोई शब्द नहीं है" आश्चर्य की बात है। भारतीय दर्शनों के अनुसार धर्म या लक्षण स्वयं भेदक होते हैं। वैशेषिक-दर्शन ने तो 'विशेष' नाम के अनन्त व्यावर्तक पदार्थ माने हैं।

वैसे अहिन्दुओं के सम्बन्ध में यद्यपि सङ्घी कहा करते हैं कि 'हमारी नीति समता की है', परन्तु श्रीगोलवलकर जी 'हमारी राष्ट्रीयता' के ५ वें प्रकरण में कहते हैं कि "हमें पहले ही ध्यान रख लेना होगा कि जहाँ तक राष्ट्र का सम्बन्ध है, जो देश, जाति, धर्म, संस्कृति और भाषा, इन पाँच सीमाओं के बाहर हैं, वे राष्ट्रीय जीवन में तब तक स्थान नहीं प्राप्त-

कर सकते हैं, जब तक अपने भेदभावों की तिलाञ्जलि देकर व राष्ट्र के धर्म, संस्कृकि और भाषा को ग्रहण नहीं कर लेते और राष्ट्रीय जाति में पूर्ण रूप से विलीन नहीं हो जाते। जब-तक वे किसी भी प्रकार के अपने जातीय, धार्मिक तथा सांस्कृतिक भेदों को रखे हुए हैं, वे विदेशी ही हैं, चाहे वे राष्ट्र के मित्र हों या शत्रु। सभी प्राचीन राष्ट्रों में, जिनका राष्ट्रीय जीवन महायुद्ध के पहले भी पूर्ण विकसित था, यही दृष्टिकोण स्वीकृत है। यद्यपि वे राष्ट्र धार्मिक सहनशीलता का व्यवहार करते हैं, तो भी आगन्तुकों को राजधर्म के रूप में राष्ट्रीय धर्म स्वीकार करना पड़ता है, राष्ट्रीय समाज में अभिन्न रूप से सम्मिलित हो जाना पड़ता है। राष्ट्र के साथ एकाकार हो जाना पड़ता है। आगन्तुकों को स्वभावतः ही मुख्य निवासियों के समूह में—राष्ट्रीय जाति में—उसकी संस्कृति एवं भाषा को स्वीकार करके, उसकी महत्वाकांक्षाओं में भाग बँटाकर, अपने अभिन्न अस्तित्व की सम्पूर्ण चेतना को खोकर तथा अपने विदेशी मूल को भूलकर एकरूप हो जाना पड़ता है। अन्यथा उन्हें बाहरी जनों की भाँति रहना पढ़ता है तथा वे किसी भी प्रकार के विशेष संरक्षण के पात्र भी नहीं समझे जाते किसी स्वत्व एवं अधिकारों की बात तो दूर रही। वहाँ विदेशी समूहों के लिए दो ही मार्ग खुले हैं—या तो राष्ट्रीय जाति में विलीन हो जायँ तथा उसकी संस्कृति ग्रहण कर लें अथवा जाति के इच्छा के अधीन बसते रहें। वही है तर्कयुक्त ठीक-ठीक हल। हिंदुस्तान में या तो विदेशी जातियों को अवश्य ही हिंदू-संस्कृति और भाषा ग्रहण कर लेनी चाहिए, हिंदू-धर्म का सम्मान करना सीखना चाहिए, हिंदू-जाति, संस्कृति एवं हिंदू-राष्ट्र को गौरवान्वित करने के अतिरिक्त कोई भाव हृदय में नहीं रखना चाहिए। युगों से चली आयी

परम्पराओं के प्रति असहनशीलता एवं अकृतज्ञता का अ ना भाव ही त्यागना आवश्यक नहीं, वरन् उसके प्रति प्रेम, श्रद्धा का निश्चित भाव भी धारण करें अर्थात् या तो विदेशीय त्याग करें अथवा पूर्णतया हिंदू-राष्ट्र के अधीन हो कर राष्ट्र में ठहरें। किसी वस्तु पर उनका अधिकार न होगा, वे किसी विशिष्ट अधिकार के पात्र नहीं, अधिक श्रेष्ठ व्यवहार की बात तो दूर रहो, उन्हें नागरिक अधिकार नहीं मिलेंगे।"

श्रीगोलवलकरजी भी हिन्दुस्तान के हिन्दुओं की एक ऐसी अवस्था पर विश्वास करते हैं, जिसने किसी अविज्ञात समय में हिन्दुस्तान में प्राकृत अवस्था छोड़ दी और एक सुव्यवस्थित सभ्य सजातीय सत्ता प्रारम्भ कर दी।" इससे तो यह निष्कर्ष निकलता है कि कभी न कभी हिन्दुस्तान के हिन्दू प्राकृत अवस्था (जङ्गली-अवस्था) में अवश्य थे और असभ्य थे। परन्तु वह बहुत चिरकाल की बात है। उनके अनुसार "वेदादि साहित्य प्राचीनतम मात्र कहे जा सकते हैं, अनादि अपौरुषेय नहीं, वे एक उन्नत भावों के संग्रहमात्र हैं।" इससे इतना सिद्ध है कि वेद उन्नति भावों का संग्रह हैं, बहुत प्राचीन हैं और उनका गौरवपूर्ण अस्तित्व गर्व का विषय हैं। परन्तु वेदों की अनादिता, अपौरुषेयता या ईश्वरनिर्मितता आदि उनके मस्तिष्क में नहीं बैठी। वेदों के अतिरिक्त रामायण और महाभारत दोनों को 'महाकाव्य' के रूप में उन्होंने स्मरण किया हैं। इसी प्रकार गीता को महाभारत का 'अनश्वर मुकुट-मणि' कहा है और महाभारत को ४५ सौ या पाँच हजार वर्ष प्राचीन मानकर बतलाया है कि "वह महाभारत जिस एक अत्यन्त सुसङ्गठित, परिष्कृत एवं सुसभ्य समाज का चित्रण करता है, जो शक्ति एवं कीर्ति के उच्च शिखर पर था, उसे वह अवस्था प्राप्त करने में कितना समय लगा होगा।"

इसमें हिन्दू-जाति की प्राचीनता तो सिद्ध की गयी है, पर साथ ही यह भी मान लिया गया कि वह 'मूलतः असभ्य थी।'

श्रीगोलवलकरजी ने लोकमान्य की यह कल्पना कि 'आर्यों का स्थान उत्तरी ध्रुव था', सही मानी है। परन्तु उत्तरी ध्रुव को अस्थिर मानकर बताया है कि "उत्तरी ध्रुव बहुत समय पूर्व पृथ्वी के उस भाग में था, जिसे आज 'बिहार एवं उड़ीसा' कहा जाता है। वहाँ से वह उत्तर-पूर्व को चला गया। इस स्थिति में हिन्दू उत्तरी प्रदेश को छोड़कर हिन्दुस्तान में नहीं आये, किन्तु उत्तरी ध्रुव ही हिन्दुस्तान में हिन्दूओं को छोड़कर प्रवास कर गया।" उत्तरी ध्रुव का इतना परिवर्तन आधुनिक भू-गर्भशास्त्रीयों की कहाँ तक मान्य है, यह बात अलग है। परन्तु श्रीसम्पूर्णानन्दजी ने तो 'आर्यों का आदिदेश' पुस्तक में लोकमान्य का यह पक्ष खण्डनकर यही सिद्ध किया है कि 'वेदों तथा अवेस्ता के आधार पर भारतवर्ष में सप्त-सिन्धु प्रदेश ही आर्यों का आदिदेश है।' श्रीगोलवलकरजी ने हिन्दू-जाति के आदर्शरूप में स्वामी दयानन्द, लोकमान्य तिलक, लाला लाजपतिराय, गान्धीजी और अरविन्द को रखा है, जिसका रामायण-महाभारत की सभ्यता से मेल नहीं खाता, जिनके सिद्धान्तों का परस्पर कोई सामञ्जस्य नहीं है।

उक्त पुस्तक में श्रीगोलवलकर का कहना है कि "हमें एक ओर तो मुसलमानों से, दूसरी ओर अंग्रेजों से युद्ध करना पड़ेगा।" उनके अनुसार "मुसलमान राष्ट्र के अङ्ग नहीं हो सकते, उन्हें नागरिक अधिकार भी प्राप्त नहीं हो सकता। शत्रु-मित्र, चोर-स्वामियों की एक ऊटपटांग गठरी राष्ट्र नहीं।" फाउलर होलकोम्वे, वर्गेस आदि के आधार पर सिद्ध किया गया है कि "राष्ट्रियता से उस जनसमुदाय का बोध होता है, जिसकी जाति, भाषा, धर्म, परम्परा और इतिहास के बन्धन

समान हो।' 'एक जनसमुदाय, जिसकी भाषा एवं साहित्य, आचार तथा भले-बुरे का साम्य हो और जो भौगोलिक एकतायुक्त देश में रहता हो'—वह वर्गेस के अनुसार 'राष्ट्र' का अर्थ है। 'गाल्पोविक' की परिभाषा है कि 'सभ्यता की समानता ही राष्ट्र है।' यथा च भौगोलिक एकतायुक्त देश, जाति, धर्म, संस्कृति, भाषा—यह राष्ट्र है, (संस्कृति में ही एतिहासिक परम्पराओं का अन्तर्भाव है)।" भारतीय दृष्टिकोण से राष्ट्रभाव अगले अध्याय में स्पष्ट किया गया है।

'विचारदर्शन' में यह भी कहा गया है कि "मुसलमानों एवं ईसाइयों को चाहिये कि वे अपने-आपको हिन्दू कहें और उन्हें हिन्दू-परम्परा का अभिमान होना चाहिये। परन्तु वे प्रभु ईसू या मुहम्मद के उपासना-मार्ग पर चलने के लिए स्वतन्त्र हैं। किंतु उपासना के साथ-साथ जीवन का सम्पूर्ण व्यवहार बदलने की आवश्यकता नहीं है। व्यक्तिधर्म, कुलधर्म, समाजधर्म भी राष्ट्रधर्म होता है। उपासना-मार्ग का परिवर्तन होने से राष्ट्रधर्म या कुलधर्म में परिवर्तन उचित नहीं। अतः मुसलमान, ईसाई अपने नाम राम, कृष्ण, अशोक, प्रताप आदि न रखकर जॉन, थॉमस, अली, हसन, इब्राहिम आदि क्यों रखते हैं ? चर्च या मसजिद में जाने से खून विदेशी नहीं हो सकता।"

वस्तुतः 'बाइबिल', 'कुरान' आदि को मानते हुए ईसाईयत एवं इसलाम के अनुसार चर्च या मसजिद में उपासना करते हुए भी अपने-आपको हिंदू कहना, रामदास, कृष्णदास आदि नाम रखना—क्या ये बातें बुद्धिसङ्गत हैं ? क्या इसी तरह इङ्गलैण्ड, फ्रांस, ईरान, ईराक आदि देश भी अपने यहाँ रहनेवाले हिन्दुओं को नहीं कह सकते ? क्या वहाँ के हिन्दू भी विष्णु, राम, कृष्ण, शिव की उपासना करते हुए अपने को 'ईसाई या

मुसलमान कहें ? क्या वे जॉन, हसन आदि अपना नाम रखें ?

'सङ्घ' के नेता कहते हैं कि "मुसलमान अपना नाम बदल दें, धर्म बदल दें, देश की भाषा का आदर करें, त्यौहार एवं छुट्टियां राष्ट्रीय ही मनाये, तब वे राष्ट्र में रह सकते हैं।" स्वाभिमान अवश्य आदरणीय होता है, परन्तु उसकी भी एक सीमा होती है। निस्सीम अभिमान के कारण ही हिटलर का विनाश हुआ। लगभग ऐसे ही अभिमान से संघियों का भी पतन हुआ है। हिटलर की 'आत्मकहानी' पढ़ने से मालूम पड़ता है कि 'संघ' के नेताओं पर उसका पूर्ण प्रभाव पड़ा है। हिटलर जैसा घमण्ड संघियों में परिलक्षित होता है। हिटलर ने जैसे यहूदियों को निकाल बाहर किया, वैसे ही ये मुसलमानों को निकालना चाहते हैं। यदि देश के आधार पर जाति का प्रयोग होता है, तो इसमें आपत्ति नहीं होती। जैसे हिन्दी मुसलमान, हिंदी सिख, हिंदी ईसाई ऐसे व्यवहार सम्भव हैं। लेकिन जब धर्म के आधार पर जाति का व्यवहार होता है, तो हिंदू, मुसलमान, ईसाई आदि अपने धर्मानुसार सर्वथा स्वतन्त्र जाति के ही रूप में रहेंगे।

'जनसंघ' 'राष्ट्रिय स्वयंसेवक संघ' का रूपान्तर है, उसके भी मुख्य नेता गोलवलकरजी ही हैं। 'जनसंघ' मुसलमानों को भी अपना सदस्य बनाने की बात करता है। किन्तु क्या वह मुसलमानों को अपना उक्त मन्तव्य बतलाकर सदस्य बनाता है ?

जिस एक-जाति की कल्पना की जाती है, वह असैद्धान्तिक होने के साथ अव्यावहारिक भी है। जर्मनी जैसी जातीय क्रांति केवल 'अन्तरराष्ट्रिय मानवाधिकार घोषणापत्र' के विरुद्ध ही नहीं, प्रत्युत विश्व में फैले हिंदुओं के विनाश का कारण भी होगी। साथ ही देश में एक जाति की सम्भावना भी नहीं हो

सकती। लेनिन ने समस्त रूस को एक मार्क्सीय-स्तर पर संघटित करना चाहा। युक्रेन की राष्ट्रियता का विनाश करना चाहा। लेकिन परिणाम यह हुआ कि 'रूसी गणराज्य की प्रत्येक इकाई को राष्ट्रियता (नेशनलिटी) के रूप में माना गया।' युक्रेन की राष्ट्रियता के सम्मुख उसे घुटने टेक देने पड़े। अतएव राष्ट्रियता का तात्पर्य एक-जाति से न समझना चाहिये।

★

राष्ट्र का भाव

'हिन्दू महासभा', 'राष्टिय स्वयंसेवक संघ', 'जनसंघ' आदि की दृष्टि में 'समान धर्म, समान भाषा, समान संस्कृति, समान जाति एवं समान इतिहासवाले लोग 'एकराष्ट्रिय' कहे जा सकते हैं। ऐसे राष्ट्रिय लोगों का देश ही 'एक-राष्ट्र' है, जैसे भारतवर्ष। इसमें समान धर्मादिवाले हिन्दू बसते हैं इसीलिए यह 'एकराष्ट्र' और 'हिन्दूराष्ट्र' हैं।' उपर्युक्त संस्थाओं के मतानुसार' "मुसलमान, ईसाई आदि भारत-राष्ट्र के राष्ट्रीय या नागरिक नहीं हो सकते। हाँ, यदि वे हिन्दूधर्म में सम्मि-लित हो जायँ, यहाँ के धर्म, संस्कृति, भाषा को अपना लें, हिन्दू हो जायँ, तभी वे इस राष्ट्र के राष्ट्रीय हो सकते हैं।"

उक्त संस्थाओं को वेदादि शास्त्रसम्मत 'जन्मना वर्ण' व्यवस्था पर विश्वास नहीं है। तभी तो वे किसी को भी, भले वह 'जन्मना' मुसलमान या ईसाई हो, शुद्ध करके हिन्दू—ब्राह्मणादि—बनाने की चेष्टा करते हैं। अतएव इन्हें शास्त्रोक्त आचार, विचार, विवाह आदि किसी में विश्वास नहीं है। वस्तुतः तो इनका 'हिन्दुत्व' 'मुसलिम-विरुद्धत्व' ही है। श्री गोलवलकरजी ने अपनी पुस्तक 'हमारी राष्ट्रीयता' में यह भी कहते हैं कि "मुसलमान भले ही इस्लाम मजहब मानता रहे, मस्जिद और 'कुरान' का अनुसरण एवं अध्ययन करता रहे, यदि वह अपने को हिन्दू कहता रहे, हिन्दू ढङ्ग का नाम रखता है, हिन्दू ढङ्ग का वेष-भूषा धारण करता है, तो वह हिन्दू है और हिन्दू राष्ट्र्य का राष्ट्री भी हो सकता है।"

परन्तु एक शास्त्रविश्वासी आस्तिक इन सब बातों को

सर्वथा निराधार ही समझता है। वेदों, स्मृतियों एवं नीतिग्रन्थों में 'राष्ट्र, के जो अर्थ ग्राह्य हैं, उनके उक्त बातों का सम्बन्ध नहीं है। वेदादि शास्त्रों के अनुसार कोई भी जनपद, देश या राज्य राष्ट्र शब्द का अर्थ होता है। वेदों में बहुत स्थलों पर 'राष्ट्र शब्द आया है (१)। सायण, उव्वट, महीधर आदि भाष्यकार आचार्यों ने 'राष्ट्र शब्द का (२) देश, जनपद एवं कहीं राज्य अर्थ किया है। मनु आदि ने 'सप्ताङ्ग, राज्य बतलाया है (३)। उन सप्ताङ्गों में राष्ट्र को एक अङ्ग माना

१—ऋग्वेद-संहिता के "यम द्विता राष्ट्रं क्षत्रियस्य (४/४२/१), "युयो राष्ट्रं बृहदिन्वति द्यौः (७/८४/२), "अहं राष्ट्राना सङ्गमनी वसूनाम् (१०/१२५/३), "राजा राष्ट्रनां पेशो नदीनाम् (७/३४/११) तथा १०/१०९/३, १०/१२४/४, १०/१७३/१-२, १०/१४३/५, १०/१७४/१, ८/१००/१०, ६/४/५ यजुर्वेद वाजसनेयी संहिता—"वृष्ण ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रमे (१०/२) एवं १०/२, "पृष्ठीमें राष्ट्रमुदर (२०/८) "प्रतिक्षत्रे प्रतिष्ठामि राष्ट्रे (२०/१०) एवं १०/३, ९/२३, १२/११। तथा अथर्व संहिता—"ये देवा राष्ट्रभृतो (१३/१/३५), "आ ते राष्ट्रमिह रोहितो" (१३/१/५), "आत्वागन् राष्ट्रं सहवर्चसो" (३/४/१), "समहमेषां राष्ट्र स्यामि" (३/१९/२), "तद्वै राष्ट्रमास्रवति" (५/१९/८), "ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं" (११/७/१७), "उत्तरं राष्ट्रं प्रजयो" (१२/५/८), "ब्रह्म च क्षत्र च राष्ट्रं च" (१२/३/१०), इत्यादि।

२—"द्विता—क्षितिस्वर्गभेदेन द्वित्वापन्नं राष्ट्रम्" (ऋ० ४/४२/१), "राष्ट्रं राज्यम् (७/८४/२) "राष्ट्रं स्वकीये देशे (महीधर यजुः ९/२३), "राष्ट्रं जनपदः" (उव्वट-महीधर-

है। यहाँ 'राष्ट्र' शब्द का 'जनपद' अर्थ किया है। मेधातिथि 'जनपद-समूह' को राष्ट्र कहते हैं। इस तरह कहीं-कहीं 'राष्ट्र' शब्द सम्पूर्ण राज्य का भी वाचक माना गया है। मनु ने राष्ट्र का अर्थ देश किया है (१) याज्ञवल्क्य ने भी कई वचनों में राष्ट्र का उल्लेख 'देश' अर्थ में किया है। महर्षि पराशर ने भी देश के अथ में ही 'राष्ट्र' शब्द का प्रयोग किया है (३)। 'कामन्दकीय नीतिसार में भी मनु के अनुसार राज्य के सताङ्ग का वर्णन आया है। वहाँ भी 'राष्ट्र' राज्य का एक अंग बतलाया गया है और उसका अर्थ 'जनपद' किया है (४)।

यजुः० १०/२), "राष्ट्रं जनपदसमूहः" (उव्वट यजु० १२/११) राष्ट्रदा देशदात्र्यः महीधर यजुः० १०/३ राष्ट्रं राज्यम् (अथर्व० ३/४/१) राष्ट्रं जनपदम्' अथर्व० ३/३९/२ इत्यादि।

३—स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा। सप्त प्रकृतयो ह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥ (मनु० ९/२९४। अत्र कुल्लूकभट्टः—राष्ट्रः देशः। मेधातिथिः–राष्ट्रं जनपदाः।

१—उपरुद्ध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत्। (म० ७/१९/५)। अत्र टीका—'अस्य च देशमुत्सादयेदिति।

२—"ये राष्ट्राधिकृतास्तेषां चारैर्ज्ञात्वा विचेष्टितम्। साधून् सम्मानयेद्राजा विपरीतांश्च घातयेत् ॥" (राजधर्म १/३३८) "अन्यायेन नृपो राष्ट्रात्स्वकोशं योऽभिवर्द्धयेत्। सोऽचिराद्विगतश्रीको नाशमेति सबान्धवः ॥" (१/३४०)

३—"जारेण जनयेद्गर्भं मृतेऽव्यक्ते गते पतौ। तां त्यजेदपरे राष्ट्रेपतितां पापकारिणीम् ॥" (अ० १०)। माधव-टीका—'अतएव पतितां तादृशीं स्वराष्ट्रादुत्सार्य परराष्ट्रे प्रेषयेत्।'

४—"स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रञ्च दुर्गं कोशो बलं सुहृत्। परस्परोपकारीदं सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥ (कामन्दकीय० ४/१) वहां श्लोक ४८ से ५४ तक राष्ट्र का निरूपण किया गया है। 'राष्ट्र' शब्द का 'जनपद' अर्थ लिया गया है।

'राज दीप्तौ' इस दीप्ति अर्थवाले 'राजृ धातु से कर्म में 'ष्ट्रन' प्रत्य करने से 'राष्ट्र' शब्द बनता है। अतः विविध सामग्रियों से दीप्त देश ही राष्ट्र है। (१) करण प्रत्यय करने से उस को राष्ट्र कहा जाता है जिस देश से राजा या राज्य दीप्त हो। (२)। देश की दीप्ति के सम्पादनार्थ ही धार्मिक, सांस्कृतिक, उच्चजातीय, उच्च-भाषाभाषी जनसमूह भी उपयुक्त हो सकता है। ऐसे जनसमूह से अलंकृत एवं दीप्त देश ही 'राष्ट्र' है।

कहा जा सकता है कि "जैसे रङ्ग-बिरङ्गे फूलों एवं मणियों से माला शोभित होती है, वैसे ही विविध जातियों, विविध धर्मों, संस्कृतियों एवं विविध भाषाओं से अलंकृत देश ही राष्ट्र माना जाय।" अन्य प्रमाणों के आधार पर भले ही इस प्रकार की खिचड़ी को हानिकर सिद्ध किया जाय, परन्तु केवल 'राष्ट्र' शब्द के आधार पर ऐसा करना सम्भव नहीं, क्योंकि आखिर परमेश्वर का विराट् रूप तो रङ्ग-बिरङ्गे

१—"राजृ दीप्तौ (राष्ट्रम् । ष्ट्रन्निति ष्ट्रन् । तितुभेति इण्निषेधः", इति माधवीय-धातुवृत्तिः।

२—"ष्ट्रन्प्रत्ययो 'धः कर्मणि ष्ट्रन्' तथा दान्मीशसयुयुजस्तुतुदसि-सिचमिहपतदंशनहः करणे'इति द्वाभ्यां सूत्राभ्यां भवति। अतोऽन्यत् ष्ट्रन् प्रत्ययविधायकं सूत्रं नास्ति। अतो 'राजते शोभतेऽनेन' इति विग्रहे राज्धातो करणे ष्ट्रनि अनुबन्धलोपे सेट्त्वात् प्राप्तस्येटः 'तितुत्रथसिसुसरकसेषु च' इत्यनेन निषेधे 'व्रश्चभ्रस्ज० इत्यादिना जस्य ष्टुत्वे राष्ट्रमिति सिद्धम्। स्त्रियां षत्वात् ङीपि राष्ट्री स्वामिनीत्यर्थः। अत्र राजते द्योततेऽनेन देशेनेति राष्ट्रम्। राजते शोभतेऽनया स्वामिन्या इति राष्ट्री। अत्रोभयत्र ष्ट्रन्निति योगविभागेन करणे ष्ट्रन् प्रत्ययः।"

पदार्थों एवं देशों से राजमान है ही तभी तो वह विवध रूपों से राजमान होने के कारण ही 'विराट्' है।

कौटल्य तथा कामन्दक के अनुसार धार्मिक जनता एवं बुद्धिमान् स्वामी, राजा, आदि भी राष्ट्र के अन्तर्गत मान्य हैं। कौटल्य के अनेक वचनों में राष्ट्र शब्द देश अर्थ में ही उपयुक्त हुआ है (१) राष्ट्र में जिन-जिन वस्तुओं का होना अनिवार्य है उनका उल्लेख करके कौटल्य ने उन्हें भी गौणी वृत्त से राष्ट्र शब्दवाच्य कहा है। उन वस्तुओं में कृषि, धान्य; उपहार, कर, वाणिज्य, लाभ, नदी-तीर्थादिलाभ एवं पत्तिनादिजन्य लाभ, सब राष्ट्र के लिए आवश्यक बतलाये गये हैं (२) राष्ट्र में

१— ब्राह्मणकन्यामभिमन्यमानः सबन्धुराष्ट्रो विननाश। सबन्धुराष्ट्रा राजानो विनेशुरजितेन्द्रियाः। कर्षकोदास्थिता राष्ट्रे राष्ट्रान्ते व्रजवासिनः॥ (राष्ट्रान्ते राष्ट्रसीमायाम्) पुरराष्ट्रमुख्यैश्च प्रतिसंसर्गं गच्छेत्। दुर्गराष्ट्रप्रमाणम् (दुर्गराष्ट्रयोरियत्ताम्)। चतुर्दण्डान्तरा रथ्या। अष्ट दण्डो राष्ट्रपथः। न च बाहिरिकान् कुर्यात्परराष्ट्रोपघातकान् (कितव-वञ्चक-नट-नर्तकादीन् ... ... पौरान् जानपदांश्च कापथं प्रवर्तयन्)। पुरराष्ट्रमुख्यैश्च प्रतिसंसर्गं गच्छेदनुग्रहार्थम्। राष्ट्रविवीतपथं साहस्रः। सर्वज्ञख्यापनं राज्ञः कारयन् राष्ट्रवासिषु। दुर्गराष्ट्रदण्डकोपकम्। राष्ट्रपालमन्तपालं वा स्थापयितुम्")। प्रकरण (१६२)।

२—"सीता (कृषिः), भागो (धान्यषड्भागः), बलिः (उपहारो भिक्षा वा), करः (फलवृक्षादिसम्बद्धं राजदेयम्) वणिक् (वणिग्द्वारेणादेयम्), नदीपालः (तीर्थरक्षकद्वारेणादेयम्), तरः (नदीतरणवेतनम्), नावः (नावध्यक्षद्वारलभ्यम्); पट्टनं (अल्पनगरलभ्यम्); विनीतं (विनीताध्यक्षद्वारेणादेयम्); वर्तनी (अन्तपालद्वारलभ्यम्) रज्जूः (विषयपालादेयम्); चोररज्जूश्च

जिन-जिन वस्तुओं का होना आवश्यक है जिन विशेषणों से विशिष्ट होने से देश राष्ट्र हो सकता है उनका निर्देश भी कौटिल्य ने किया है। जिस देश की रक्षा सीमावर्ती पर्वत अरण्य नदी समुद्र आदि भौगोलिक साधनों से सुगम हो वह देश स्वारक्ष होकर राष्ट्र है। जिस देश की सुखपूर्वक जीविका या जीवन यात्रा चल सके, वह स्वाजीव है। शत्रुद्वेषीसामन्तवर्ग जिसके वशवर्ती हों, वैसे राजा तथा प्रजा से युक्त देश 'शक्यसामन्त' राष्ट्र है। इसी तरह वह देश राष्ट्र है, जो अनिष्ट पङ्क, पाषाण, ऊषर, विषम, कण्टक, श्रेणी, व्याल, मृगाटवी, आदि से रहित हो, जो कमनीय हो। जो देश कृषि, खनिद्रव्य, हस्ती, अरण्य आदि से युक्त, गोवंश के लिए अनुकूल, पुरुषों को हितावह, सुरक्षित गोचरभूमि से युक्त, विविध पशुओं से सम्पन्न, यथा समय वर्षा हो एवं जो जल, स्थल के विविध मार्गों से युक्त हो वह राष्ट्र है। सारभूत आश्चर्यपूर्ण अत्यन्त पवित्र तीर्थादि से युक्त दण्ड एवं कर आदि को सहन कर सकनेवाला कर्मशील शिल्पी एवं किसानों से युक्त बुद्धिमान गम्भीर धार्मिक स्वामी से युक्त वैश्य-शूद्रादि वर्ण के लोग जिस देश में पर्याप्त हों, जहाँ राजभक्त पवित्र निष्कपट एवं धार्मिक जन निवास करते हों ऐसी जनपद-सम्पत् से युक्त देश राष्ट्र है (१)। कामन्दक आदि नीतिशास्त्रज्ञों ने भी इन्हीं

(चोरग्राहकाय ग्रामदेयम्), राष्ट्रम्। पिण्डकरः, षड्भागः, सेनाभक्तम, बलिः, करः उत्सङ्गः, पार्श्वम्, पारिहीणकम्, औपायनिकम्, कौष्ठेयकञ्च राष्ट्रम्" अ० ३६।

१— मध्ये चान्ते च स्थानवानात्मधारणः परधारणश्चापदि स्वारक्षः स्वाजीवः शत्रुद्वेषी शक्यसामन्तः पङ्कपाषाणोषरविषमकण्टकश्रेणीव्यालमृगाटवीहीनः कान्तः सीता-खनिद्रव्यहस्तिवनवान् गव्यः पौरुषेयो गुप्तगोचरः पशुमान् अदेवमातृकः वारिस्थलपथाभ्यामुपेतः सारचित्रबहुपण्यः दण्डकरसहः कर्मशीलकर्षकः

बातों का वर्णन अपने ग्रन्थों में किया है (२)।

एतावता सप्ताङ्ग राज्य ही राष्ट्र शब्द का अर्थ है। यों तो वाल्मीकिय-रामायण' में ग्रामादि के अर्थ में भी राष्ट्र' शब्द आया है (१)। कई स्थलों में उपावर्त' या उपद्रव अर्थ में भी राष्ट्र शब्द का प्रयोग किया गया है। अमरकोष' में राजा के साले को राष्ट्रिय' कहा गया है २। फिर भी वेदों उपनिषदों पुराणों एवं स्मृतियों में राष्ट्र शब्द का जनपद देश एवं राज्य अर्थ किया गया है। उसी राज्य आदि के विशेषण रूप से जनता राजा आदि भी गृहीत होते हैं।

परन्तु राष्ट्र या जनपद के नाम पर किसी जातिविशेष या धर्मविशेष का बहिष्कार अथवा निष्कासन सिद्ध नहीं होता। अतः मुसलमान, ईसाई जब हिंदू वनें या अपना हिन्दू नाम धारण करें, तभी वे राष्ट्रीय हो सकते हैं, अन्यथा नहीं" इत्यादि

अबालिशस्वामी अवरवर्णप्रायो भक्तशुचिमनुष्यं इति जनपदसम्पत्" कौटलीय अर्थशास्त्र प्रकरण ९६।

२—'भूगुणैर्वर्द्धते राष्ट्रं तद्वृद्धिर्नृपवृद्धये। तस्माद्गुणवतीं भूमिं भूत्यै नृपतिरावसेत् ॥४८॥ शस्याकरवती पण्यखनिद्रव्यसमन्विता। गोहिता भूरिसलिला पुण्यैर्जनपदैर्वृता ॥ ४९ ॥ रम्या सकुञ्जरवना वारिस्थलपथान्विता। अदेवमातृका चेति शस्यते भूर्विभूतये ॥ ५० ॥ स्वाजीवो भूगुणैर्युक्तः सानूपः पर्वताश्रयः शूद्रकारुवणिक्प्रायो महारम्भ कृषीवलः ॥ ५२ ॥ सानुरागो रिपुद्वेषी पीडाकरसहः पृथुः। नानादेश्यैः समाकीर्णो धार्मिकः पशुमान् धनी ॥ ५३ ॥ इदृग्जनपदः शस्तोऽमूर्खव्यसनिनायकः तं वर्द्धयेत्प्रयत्नेन तस्मात्सर्वं प्रवर्द्धते ॥ ५४ ॥ कामन्दकीयनीतिसार अ० ३।

१—राष्ट्राणि नगराणि च" (वाल्मीकि-रामायण)।

२—राजश्यालस्तु राष्ट्रीयः" (अमर०)।

बातें सिद्ध नहीं होतीं। एक भाषाभाषी या समान भाषाभाषी होने से यदि एकराष्ट्रीयता का सिद्धान्त माना जायेगा, तब तो बिहारी, बङ्गाली, उड़िया, तेलगु, तमिल, कन्नड़-भाषाभाषी लोग भी एकराष्ट्रिय न हो सकेंगे, क्योंकि उनकी भाषाएँ न तो समान हैं और न एक ही हैं। इसी तरह 'एक-धर्मवाले एक-राष्ट्रीय हैं' यह भी नहीं कहा जा सकता। जैन, बौद्ध वैदिक आदि धर्म मानने वालों में महान् मतभेद स्पष्ट ही है। शास्त्रोक्त ब्राह्मणादि जातियों में भी मतभेद है अतः एकजातीयता भी नहीं कही जा सकती।

शास्त्रों में इस देश का नाम 'भारतवर्ष' 'अजनाभवर्ष' आया है। इसके अन्तर्गत ब्रह्मावर्त, आर्यावर्त, काश्मीर, कुरु, कोशल, पाञ्चाल, मद्र, वाल्हीक, आनर्त अनेक नामवाले प्रदेश-आते है। भारतवर्ष का पुराणोक्त परिणाम ९ हजार योजन है। इस दृष्टि से इस समय उपलब्ध समस्त पृथ्वी ही भारततर्ष है। उसके अन्तर्गत भारतखण्ड-प्रदेश ही आजकल भारत' नाम से प्रसिद्ध है। सुतरां इस देश में रहनेवाला कोइ भी व्यक्ति भारतीय' या रांष्ट्रिय, कहा जा सकता है। हाँ, प्राचीनकाल से इस देश में वर्णाश्रमी ब्राह्मण आदि रहा करते थे यह पुराणाआदि से प्रमाणित है। किसी भी देश में अवश्य ही किसी न किसी स्वामी का स्वत्व हुआ करता है। परम्परा से भारत में सूर्य-सोमवंशी राजाओं का शासन रहा और वर्णाश्रमी ब्राह्मण आदि जो आजकल हिन्दू कहे जाते हैं यहाँ रहते थे। अतः यह देश उनका है। इस देश में उनका स्वत्व उनके देवता तथा तीर्थस्थल थे। उनके पूर्वजों के ऐतिहासिक संस्कारों से ओतप्रोत यह देश उनकी बपौती मिल्कियत है। भले ही **'वीरभोग्या' वसुन्धरा** के सिद्धान्तानुसार जिसने युद्ध करके इस देश को अपने अधिकार में कर लिया उसका भी इस देश पर कभी-कभी स्वत्व हो गया हो।

भुक्तिप्रमाण के आधार पर १२ वर्ष पर्यन्त जिस भूमि अथवा सम्पत्ति पर जिसका अक्षुण्ण अधिकार होता है वह उसकी हो जाती है परन्तु यह बात व्यक्तिगत अधिकार के सम्बन्ध में ही हो सकती है। किसी बड़ी जाति के अधिकार का प्रश्न उक्त सिद्धान्त से ऊँचा होता है क्योंकि जातिगत संघर्ष तो प्रायः सदा ही बना रहता है। यद्यपि आज भी कितने ही ग्रामों के नाम पर महाराष्ट्रीय सरयूपारीण गुर्जर आदि ब्राम्हणों एवं मारवाड़ी आदि वैश्यों की जातियाँ प्रसिद्ध हैं। जैसे कोङ्कणस्थ देशस्थ कह्लाड़े भोप-टकर पुणाताम्बेकर लोड़कर बड़नगर बिसनगरा डूंगरपुरा आदि एवं करुअ चम-ड़िया डोडवाना देसवालो सेकसरिया राजगढ़िया आदि। फिर भी आज उनका अधिकार उन-उन गाँवों पर नहीं है और संङ्घर्ष भी नहीं है। परन्तु भारत पर तो भले ही कभी मुसलमानों का अधिकार हो गया हो फिर भी संङ्घर्ष सदा ही बना था। हिन्दू सदा ही अपनी मातृभूमि अपनी देश की रक्षा के लिए सङ्घर्षरत रहे हैं। किसी के मकान या सम्पत्ति पर भले हो लुटेरे कुछ समय तक बलात् अधिकार कर लें और उस भूमि या सम्पत्ति के स्वामी को हथकड़ी-बेड़ी से जकड़कर मुह बन्दकर ताला जकड़ दें, फिर भी एक अविकृत-मस्तिष्क, अलुप्त-स्मृति, पुँस्त्वसम्पन्न व्यक्ति अवश्य सोचता है कि 'जब भी मुझे अवसर एवं सामर्थ्य मिलेगा, डाकू को मार भगाकर अपनी मिल्कियत पर अधिकार कर ही लूँगा।

इस दृष्टि से जिस प्रकार किसी साधारण जाति का स्वत्व किसी ग्राम या किसी गृह में होता है, उसी प्रकार किसी बड़ी जाति का स्वत्व किसी देश पर होता है। जैसे इग्लैण्ड की भूमि पर अंग्रेजों का है, फ्रान्स पर फ्रांसीसियों का, जर्मनी पर जर्मनों का, अरब पर अरबों का स्वत्व है। इसी अभिप्राय से यह देश-हिन्दुओं का कहा जा सकता है। उनके तीर्थ, उनके देव मन्दिर

उनके पूर्वजों का ऐतिहासिक स्थान इस देश के कोने-कोने तक विद्यमान हैं। अतः यह देश विशिष्ट रूप से हिन्दुओं का है।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि 'यहाँ अन्य देशों के लोग रह ही नहीं सकते या इस देश के लोग रह ही नही सकते।' वस्तुतः प्रतीत हो रहा है कि 'संघ' के नेताओं के मस्तिष्क पर हिट्लर या उसकी पुस्तक 'मेरी संघर्ष' का पूर्ण प्रभाव पड़ा है। इन्होंने उसी ढंग का घमण्ड, उसी ढंग की राष्ट्रीयता को अपनाया हो, ऐसा मालूम पड़ता है।

वस्तुतः आधुनिक राष्ट्रवाद एक अन्धविश्वास और प्रतिक्रियामात्र है। जैसा कि भूतपूर्व अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन ने कहा है कि—"मैं स्वशासित राज्य पर वर्षों से व्याख्यान देता आ रहा हूँ, किन्तु वह क्या है, यह कह नहीं सकता।" इसी प्रकार पश्चिमी राष्ट्रवादियों की भी बात है। राष्ट्र के विषय में मुख्य पाँच विचार हैं : १—परम्परावादी, २—उदारवादी, ३—जनवादी, ४—साम्यवादा और ५—उग्रराष्ट्रवादी।

परम्परावादी 'बर्क' ने राष्ट्र की परम्पराओं, को जिनमें पूर्वजों की बुद्धिमानी सन्निविष्ट हो, आदर की दृष्टि से देखा। उदारवादी विचारकों में 'वेन्थम' तथा 'मैजिन' मुख्य हैं। वेन्थम ने कहा था—"एक राष्ट्र के अन्तर्गत वैयक्तिक स्वतन्त्रता होनी चाहिए। मनुष्य के प्रकृतिदत्त अधिकारों की सुरक्षा होनी चाहिए। 'विधिशासन' अन्तर्राष्ट्रीयता की तरफ झुका हो। एक राष्ट्र में अनेक धर्म, भाषा और जाति के लोग रह सकते हैं।" आगे उसने कहा कि "देशभक्ति विश्वबन्धुत्व से मुझे शत्रु बनाती है, तो मैं देशभक्त नहीं हूँ।" मैजिनी का भी कहना है कि "राष्ट्रवाद का अर्थ अन्तर्राष्ट्रीय शत्रुता नहीं है।" जनवादी विचारधारा फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति से प्रारम्भ होती है जब जनता का 'दैवी सिद्धान्त' उदित हुआ। आटो वीयर' ने कहा

हैं कि— वह राष्ट्र नहीं जहाँपर जनता को आर्थिक सामाजिक तथा रानैतिक अधिकार न हो।" साम्यवादियों ने तो राष्ट्रवाद की भर पेट निन्दा की है। उनके अनुसार यह पूँजीवादी नारा है। पाँचवा है उग्रराष्ट्रवाद। इसके दो रूप हैं—राष्ट्रराज्य (नेशनल स्टेट) तथा सांस्कृतिक राज्य। प्रथम का प्रचार ब्रिटेन फ्रांस स्पेन आदि में और दूसरे का प्रचार मध्य-यूरोपीय देशों में हुआ। इसके प्रवर्तक हिटलर ने कहा हैं कि एक जाति एक राष्ट्र। जहां-जहां जर्मन वहां-वहां जर्मन राष्ट्र।" मुसोलिनी और जिना ने भी इसी बात को दुहराया है। वार्कर' ने लार्ड-एक्टन् के बहुराष्ट्रिय विचार का खण्डन करते हुए लिखा था कि एक राज्य में एक ही राष्ट्र सम्भव है।

भारत के जनसंघी जैसे राष्ट्रवादी भी उसी उग्रराष्ट्रवाद के अनुयायी हं। अन्तर यही है कि हिटलर रक्त की प्रधानता स्वीकार करता था और ये निराधार हैं। हिटलर का यहूदियों के प्रति जैसा भीषण द्वेष था वैसा ही भाव इन लोगों का मुसलिम जाति पर होना प्रतीत होता है हिटलर ने जैसे सैनिक ढ़ंग के स्वयंसेवकों के प्रदर्शन द्वारा लोगों पर अपनी धाक जमायी थी वैसे ही ये लोग भी सैनिक ढङ्ग के स्वयंसेवकों के सङ्गठनों से जनता पर अपना प्रभाव डालने का प्रयत्न करते देखे जाते है। हिटलर की दृष्टि में जैसे जर्मन जाति के लोग ही जर्मनी के नागरिक हो सकते थे वैसे ही इन नेताओं की दृष्टि में हिन्दू-जाति के लोग ही भारत के नागरिक होने के अधिकारी हो सकते है। चूँकि इन लोगों का जन्मना वर्ण व्यवस्था पर विश्वास नहीं है अतः इनकी दृष्टि में मुसलमान ईसाई भी अपने को हिन्दू मान लें हिन्दू नाम हिन्दू वेश-भूषा स्वीकार कर ले तो वेभी हिन्दू हो सकते है।

शास्त्रीय सिद्धान्त तो यह है कि समष्टि-हित का ध्यान

रखते हुए व्यष्टि-अभिमान करना लाभदायक होता है। परन्तु समष्टि-हित-विरुद्ध होने पर वही व्यष्टि अभिमान हानिकारक होता हैं। व्यक्तिवाद जातिवाद समष्टिविरोधी होने पर खतरनाक होते है वैसे ही समष्टि-विरुद्ध राष्ट्रवाद हिटलरी राष्ट्रवाद की तरह ही भयानक होता है। वस्तुस्थित यह है कि जैसे कोई ब्राह्मण होते हुए मानव भी है और मानव होते हुए परमेश्वर की सन्तान या उसका अंश जीव भो है वैसे ही उसी परमेश्वर की सन्तान होने के नाते सभी के साथ समानता एवं भ्रातृता का सम्बन्ध है।

★

संस्कृति-समीक्षा

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ भारतीय संस्कृति की रक्षा और उसके प्रचार की चर्चा चल पड़ी, यह बड़ी प्रसन्नता की बात है। वास्तव में किसी देश या राष्ट्र का प्राण उसकी संस्कृति ही है, क्योंकि यदि उसकी कोई अपनी संस्कृति नहीं, तो संसार में उसका व्यक्तित्व ही क्या ? परन्तु संस्कृति का क्या अर्थ है और भारतीय संस्कृति क्या है, यह नहीं बतलाया जाता। अंग्रेजी शब्द 'कलचर' का अनुवाद संस्कृति किया जाता है। परन्तु 'संस्कृति' संस्कृत भाषा का शब्द है, अतः संस्कृत व्याकरण के अनुसार ही इसका अर्थ होना चाहिये। 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु से भूषण अर्थ में 'सुट्' प्रत्यय होने से 'संस्कृति' शब्द सिद्ध होता हैं। इस तरह लौकिक, पारलौकिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनैतिक अभ्युदय के उपयुक्त देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि अहङ्कारादि की भूषणभूत सम्यक् चेष्टाएँ एवं हलचलें ही संस्कृति हैं।

संस्कृति और संस्कार

'संस्कार' या 'संस्करण' का भी संस्कृति से मिलता-जुलता अर्थ होता है। संस्कार दो प्रकार के होते हैं—'मलापनयन, और 'अतिशयाधान, । किसी दर्पण पर कोई चूर्ण घिस कर उसका मल साफ करना 'मलापनयन संस्कार' हैं। तैल, रङ्ग द्वारा हस्ती के मस्तक या काष्ठ की किसी वस्तु को चमकीला तथा सुन्दर बनाना 'अतिशयाधान संस्कार' है। नैयायिकों की दृष्टि से वेग, भावना और स्थितिस्थापक ये ही त्रिविध संस्कार हैं। अनुभवजन्य, स्मृति का हेतु भावना, है। अन्यत्र किसी भी शिल्पादि में बार-बार अभ्यास करने से उत्पन्न कौशल की अतिशयता ही भावना मानी गयी है—

**"तत्तज्जात्युचिते शिल्पे भूयोऽभ्यासेन वासना।
कौशलातिशयाख्या या भावनेत्युच्यते हि सा॥"**

स्वाश्रयकी प्रागुद्भूत अवस्थान्तरोत्पादक अतीन्द्रिय धर्म ही 'संस्कार' है—**"स्वाश्रयस्य प्रागुद्भूतावस्थासमानावस्थान्तरोत्पादको अतीन्द्रियो धर्मः संस्कारः।"** योगियों की दृष्टि में न केवल मानस संकल्प, विचार आदि से ही, अपितु देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार आदि में सभी हलचलों, चेष्टाओं, और व्यापारों से संस्कार उत्पन्न होते हैं। अतएव 'कर्म-संस्कार' या 'कर्म-वासना शब्द से उनका व्यवहार होता है। इस दृष्टि से सम्यक् असम्यक् सभी प्रकार के कर्मों से संस्कार उत्पन्न होते हैं।

संस्कारों का प्रभाव

संस्कारों से आत्मा या अन्तःकरण शुद्ध होता है। इसलिए उत्तम और निकृष्ट संस्कार इस रूप से संस्कारों में उत्कृष्टता या निकृष्टता का भी व्यवहार होता है। षोडश एवं अष्टचत्वारिंशत् संस्कारों द्वारा आत्मा अथवा अन्तःकरण को संस्कृत करना चाहिए, यह भी शास्त्र का आदेश है—**"यस्यैते अष्टचत्वारिंशत् संस्कारा भवन्ति स ब्राह्मणः सायुज्यं सलोकतां प्राप्नोति**। यहाँ 'सम्' की आवृत्ति करके 'सम्यक् संस्कार' को ही 'संस्कृति; कहा जाता है। इन सम्यक् संस्कारों का पर्यवसान भी मलापनयन एवं अतिशयाधान में होता है।कुछ कर्मों द्वारा पाप, अज्ञानादि का अपनयन और कुछ द्वारा पवित्रता, विद्या आदि अतिशयता का आधान किया जाता है। साधारतः दार्शनिकों के यहाँ यह सब आत्मा में होता है, पर वेदान्त की दृष्टि से अन्तःकरण में। आत्मा तो सर्वथा असङ्ग ही रहता है। मोटेतौर पर कह सकते हैं कि जैसे खान से निकले हुए हीरक एवं मणि आदि में संस्कार द्वारा चमक या शोभा बढ़ायी जाती है, वैसे ही अविद्या-तत्कार्यात्मक प्रपञ्चमग्न स्वभावशुद्ध

अन्तरात्मा की शोभा संस्कारों द्वारा व्यक्त की जाती है। तथा च आत्मा को प्रकृत निम्न स्तरों से मुक्त करके क्रमेण ऊपरी स्तरों से सम्बन्ध करने या प्रकृति को सभो स्तरों से मुक्त करके उसे स्वाभाविक अनन्त आनन्द-साम्राज्य-सिंहासन पर समासीन करने पर आत्मा का संस्कार है। ऐसे संस्कारों के उपयुक्त कृतियाँ ही 'संस्कृति' शब्द से कही जा सकती हैं। जैसे वेदोक्त कर्म और कर्मजन्य अदृष्ट दोनों ही 'धर्म' शब्द से व्यवहृत होते हैं, वैसे ही संस्कार और संस्कारोपयुक्त कृतियाँ दोनों ही 'संस्कृति' शब्द से कही जा सकती हैं। इस तरह सांसारिक निम्नतर सीमाओं में आवद्ध आत्मा के उत्थानानुकूल सम्यक् भूषणभूत कृतियाँ ही 'संस्कृति' हैं।

विभिन्न संस्कृतियाँ

विभिन्न देशों और जातियों की विभिन्न संस्कृतियाँ प्रसिद्ध हैं। संस्कृतियों में प्रायः सङ्घर्ष भी चलता है। कहीं तो संस्कृतियों की खिचड़ी बन जाती है और कहीं एक सबल संस्कृति निर्बल संस्कृति का विनाश कर देती है। संस्कृति का भूमि के साथ सम्बन्ध होने से ही उसमें विभिन्नता आती है। किसी देश के जल-वायु का प्रभाव वहाँ के निवासियों के आचार-विचार वेष-भूषा, भाषा-साहित्य आदि पर पड़ता ही है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने इसी प्रभाव को प्राधान्य दिया है। कुछ विद्वानों का मत है कि "किसी राष्ट्र के किसी असाधारण बड़प्पन के गर्व को ही संस्कृति कहना चाहिए। उदाहरणार्थ, इङ्गलैण्ड के लोगों को बड़ा गर्व अपनी पार्लामेन्टी शासनप्रणाली के आविष्कार के लिए है। अमेरीका को गर्व है कि उसने संसार में स्वतन्त्रता की पताका फहरायी और दो महायुद्धों में उसने विश्व को स्वतन्त्रता का वरदान दिया। हिटलर ने जर्मनी में आर्यत्व के विशुद्ध रुधिर का गर्व उत्पन्न किया। अतः उनकी

यह विशेषता ही उनकी संस्कृति का आधार है।" किसी अंश में यह सब भाव ठीक हैं, परन्तु संस्कृति की ऐसी परिभाषाएँ अन्धों द्वारा हाथी के वर्णन जैसी हैं।

संस्कृति का आधार

एक परिभाषा, लक्षण एवं आधार स्वीकृत किये बिना 'संस्कृति' क्या है, यह समझ मे नहीं आ सकता। ऊपर दिखाया जा चुका है कि संस्कृति का लक्ष्य आत्मा का उत्थान है। जिसके द्वारा इसका मार्ग बतलाया जाय, वही संस्कृति का आधार हो सकता है। यह विभिन्न जातियों के धर्म-ग्रन्थों द्वारा ही बतलाया जाता है। उनके अतिरिक्त किन्हीं भी चेष्टाओं की भूषणता-दूषणता, सम्यक्ता या असम्यक्ता का निर्णायक या कसौटी और हो ही क्या सकता है? अतः ईसाई-संस्कृति का आधार उनकी पवित्र 'बाइबिल' और मुसलिम संस्कृति का आधार 'कुरानशरीफ है। इसी तरह हिन्दू-संस्कृति का आधार वेदादि-शास्त्र हैं।

भारतीय संस्कृति

अब प्रश्न होता है कि भारतीय संस्कृति क्या है? इसमें सन्देह नहीं कि भारत में कई विदेशी जातियाँ आयी और बस गयीं। भारतीयों के आचार-विचार रहन-सहन आदि पर उनका कुछ प्रभाव भी पड़ा। पर इससे यह नहीं कहा जा सकता कि भारतीय संस्कृति का आधार ही बदल गया। भारत हिन्दुओं का देश है अतः उन्हींकी संस्कृति भारतीय संस्कृति है जिसके मूलस्रोत वेदादि-शास्त्र हैं। अतएव लौकिक-पारलौकिक आर्थिक राजनैतिक सामाजिक उन्नति का वेदादिशास्त्रसम्मत मार्ग ही भारतीय-संस्कृति है। दर्शन भाषा साहित्य ज्ञान विज्ञान इतिहास कला आदि संस्कृति के सभी अङ्गों पर वेदादिशास्त्रमूलक सिद्धान्तों की ही छाप है।

बाहरी प्रभाव उससे पृथक् दीख पड़ता है। इस सम्बध में एक बात और विचारणीय है। संसार के प्रायः सभी देशों की प्राचीन संस्कृतियों में भारतीय संस्कृति की कितनी ही बातें विकृति रूप में पायी जाती हैं। उदाहरणार्थ किसी न किसी रूप में वर्णव्यवस्था सभी जगह मिलती है। विभिन्न देशों के प्राचीन ग्रन्थों में यज्ञ-यागादि की भी चर्चा आती है। दर्शन-शास्त्र तो व्यापक रूप में फैला हुआ है। ये सब बातें वहाँ कैसे पहुँचीं यह दूसरा प्रश्न है। पर इतना तो सिद्ध ही है कि इन सबका सम्बन्ध हिन्दू-संस्कृति से है। एतावता यह भी सिद्ध हो जाता है कि वह हिन्दू-संस्कृति है। भारत की भूमि से भी उसका सम्बन्ध है। जो बड़प्पन के गर्व की बात कही जाती है उसका भी अनुभव इसी संस्कृति में होता है। इस प्रकार सभी दृष्टियों से यही मानना पड़ता है कि हिन्दू-संस्कृति ही भारतीय संस्कृति हैं। यह मान लिया जाय तो विवाद का अवसर ही नहीं रहता, क्योंकि हिन्दू-संस्कृति की सीमा हिन्दू धर्मशास्त्रों में निर्धारित है उनके द्वारा हमें उसके आधारभूत सिद्धान्तों और उसके विकसित रूप का सम्पूर्ण चित्र मिल सकता है।

खिचड़ी संस्कृति

आजकल के कुछ नेता कई संस्कृतियों, विशेषतः हिन्दू-मुसलिम-संस्कृति के मिश्रित रूप को ही 'भारतीय संस्कृति' मानते हैं। इसीको 'हिन्दुस्तानी संस्कृति' का भी नाम दिया जाता है। किन्तु इसे भारतीय संस्कृति कदापि नहीं कहा जा सकता। इसका न कोई आधार हैं और न कोई स्पष्ट रूप। प्रायः देखा तो यह गया है कि जहां-जहां भारतीय संस्कृति के किसी अंग पर विदेशी प्रभाव पड़ा, वहीं उसमें निकृष्टता आ गयी। दर्शन, कला, साहित्य आदि सभी में यह दिखलाया जा

सकता है। देश के नेताओं ने 'इण्डियन यूनियन' (भारत-संघ) को 'सेक्युलर स्टेट' (धर्मनिरपेक्ष राज्य) घोषित कर दिया है अनेक बार यह आश्वासन भी दिया है कि 'सबकी संस्कृति की रक्षा की जायगी, किसी संस्कृति पर हस्तक्षेप न किया जायगा। कई नेताओं ने यह भी कहा हैं कि रंग-बिरंगे पुष्पों या हीरों द्वारा जैसे माला की शोभा बढ़ती हैं, वैसे ही अनेक धर्मों और संस्कृतियों का यदि एक सूत्र में संगथन हो' तो उससे राष्ट्र की शोभा बढ़ेगी, घटेगी नहीं। अतः किसी पुष्प, हीरक या उसके रंग के बिगाड़ने की अपेक्षा नहीं।' ऐसी स्थिति में संस्कृति को खिचड़ी कहां तक ठीक हैं ? हिन्दू-जाति, हिन्दू-संस्कृति, हिन्दू-धर्म, वेदादिशास्त्र, मंदिर और राम-कृष्ण आदि समझ में आ सकते हैं। उसी तरह कुरान, मसजिद, इस्लाम, अरबी-उर्दू भाषा भी समझ में आ सकती है। परन्तु इन दोनों को बिगाड़कर वेद पुरान, कलमा-कुरान, मन्दिर मसजिद, अल्लाह-राम आदि को मिलाकर हिन्दुस्तानी संस्कृति, हिन्दुस्तानी भाषा आदि कथमपि समझ में नहो आते। राम भी अच्छा, खुदा भी अच्छा, परन्तु रमखुदैय्या खतरें से खाली नहीं। दोनदार, ईमानदार हिन्दू या मुसलमान दोनों ही ठीक, वे-दीन, वे-ईमान दोनों ही खतरनाक हो सकते हैं। अपने-अपने मूल धर्मों, संस्कृतियों एवं मूल शास्त्रों पर विश्वास न रहेगा, तो कृत्रिम संस्कृतियों और उनके कृत्रिम आधारों पर विश्वास होना कठिन ही नहीं, असम्भव है।

एक संस्कृति

कुछ दिनों से 'एक संस्कृति' का नारा लगाया जा रहा है। यहां भी वही प्रश्न होता है कि 'कौन संस्कृति, हिन्दुस्तानी खिचड़ी या विशुद्ध हिन्दू-संस्कृति ?' तथाकथित हिन्दुस्तानी संस्कृति में क्या सर्वसाधरण हिन्दू या मुसलमान को कभी पूरी

श्रद्धा हो सकती है ? तब फिर यदि एक संस्कृति हिन्दू संस्कृति ही मानी जाय, तो यह कैसे आशा की जा सकती है कि मुसलमान उसे स्वीकार कर लेंगे ? कुछ लोग कहते हैं कि "मुसलमान कलमा-कुरान और मसजिद का आदर और अपनी भाषा, वेष-भूषा रखते हुए भी भारतीय संस्कृति के रूप में हिन्दू-संस्कृति का पालन कर सकते हैं।" फिर आचार-विचार, रहन-सहन, इतिहास, साहित्य, दर्शन, धर्म आदि से भिन्न संस्कृति कौन-सी वस्तु होगी, जिसे मानकर मुसलमान उसपर गर्व करेगा ? कुछ लोग तो यहां तक कहते हैं कि 'एक संस्कृति हिन्दूसंस्कृति ही है, वही सबको माननी पड़ेगी। जो ऐसा न करेंगे, उन्हें भारत छोड़ना होगा।' किन्तु ऐसा कहना सरकार द्वारा घोषित सेक्युलर (धर्मनिरपेक्ष) नीति के ही विरुद्ध नहीं हिन्दू-धर्म एवं हिन्दू-संस्कृति के मूलभूत सिद्धान्त के ही विपरीत है। हिन्दू-धर्म तो प्रत्येक व्यक्ति को स्वधर्मानुसार चलने की स्वतन्त्रता देता है। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' उसका सिद्धान्त है। अतः उसे कभी भी अभीष्ट नहीं कि येन-केन प्रकारेण सभी हिन्दू बना लिये जायं। हिन्दू-संस्कृति ही भारतीय संस्कृति है, इस दृष्टि से एक संस्कृति का नारा ठीक है, पर इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि देश में अल्पसंख्यकों की संस्कृतियों का संरक्षण न हो। यह भारत की ही विशेषता है कि वह भिन्नता में भी एकता देखता है। एक सूत्र में गुथे हुए मणियों की माला का उदाहरण भी इसी में घटता है।

कर्मणा वर्ण-व्यवस्था

संस्कृति के प्रसंग में ही कर्मणा वर्ण-व्यवस्था की बात उठती है। सोचा यह जाता है कि कर्मणा वर्ण-व्यवस्था मान लेने से अन्य धर्मावलम्बियों को हिन्दूसमाज में लाने की सुविधा होगी। मौलवी, मुल्ला, अध्यापक आदि बुद्धिजीवी ब्राह्मण बन जायंगे। सैनिक आदि बलजीवी क्षत्रिय, व्यापारी वैश्य और

सेवाप्रतायण शूद्रकोटि में आ जायंगे। बहुतों को इसका प्रलोभन रहेगा।" यद्यपि यह ठीक है कि भारत में वैदिकों का बाहुल्य होने से वैदिक संस्कृति ही 'बाहुल्येन व्यपदेशा भवन्ति' न्याय से भारतीय संस्कृति कही जा सकती है। वेद और वेदानुसारी आर्ष धर्मग्रन्थों के अनुसार आचार-विचार, उपासना, कर्म आदि का हिन्दू-संस्कृति में समावेश है।" उन धर्मों का पालन करनेवाला कोई भी हिन्दू कहला सकता है। तथापि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि वर्ण-व्यवस्था जन्मना ही है। वर्णों का कर्मणा उत्कर्ष अवश्य होता है; जैसे बीज और क्षेत्र दोनों ही अंकुर के कारण होते हैं, वैसे ही जन्म और कर्म दोनों वर्ण के मूल हैं। प्राक्तन गुण-कर्मानुरूप जन्म लेकर वर्ण और फिर समुचित गुणकर्म से उसका उत्कर्ष होता है। गुण-कर्मविहीन अधम और गुणकर्मयुक्त उत्तम ब्राह्मणादि होते हैं। जन्मप्राप्ति में भी प्राक्तन कर्म अपेक्षित होते ही हैं। जैसे सिंह जन्म एवं शौर्य, क्रौर्य आदि गुण-कर्म से युक्त मुख्य सिंह होता है और गुण-कर्म के बिना जन्ममात्र से जाति सिंह। जन्म के बिना गुण-कर्ममात्र से मनुष्य को भी शौर्यादि गुण-कर्म से सिंह कहा जाता है, पर वह गौण प्रयोग है। उसी तरह जन्म और कर्म से मुख्य ब्राह्मणादि, गुण-कर्म के बिना केवल जन्म से जाति-ब्राह्मणादि, जन्म के बिना गुण-कर्मादि से गौण ब्राह्मणादि का व्यवहार होता है। जैसे माता, भगिनी आदि को उद्दिष्ट करके उनके कर्तव्यों का शास्त्रों में उपदेश है, वैसे ही ब्राह्मणादि को उद्दिष्ट करके उनके कर्तव्यों का। इसी तरह व्यवस्था भी रह सकती है। अन्यथा पत्नी का कर्म करने से दुहिता या भगिनी भी पत्नी हो जायगी। इसीलिए 'ब्राह्मणो यजेत' आदि विधान है, 'यः ब्राह्मणो भवितुमिच्छेत्स यजेत या 'यो यजेत स ब्राह्मणः' ऐसा विधान नहीं है। 'पत्नी एवं कुर्यात्' या 'एवं कुर्यात् सा पत्नी' ऐसा विधान नहीं है कर्मणा वर्णव्यवस्था मानने पर दिन

भर में ही अनेक बार वर्ण बदलते रहेंगे, फिर व्यवस्था क्या होगी ? अतः उपनयन, वेदाध्ययन, अग्निहोत्रादि कर्मानुष्ठान, भोजन, विवाहादि सभी सांस्कृतिक कर्म जन्मना ब्राह्मणादि के आपस में ही हो सकते हैं। जन्मना ब्राह्मण और कर्मणा मुसलमान ब्राह्मण आदि में भोजन, विवाहादि सम्बन्ध तथा जन्मना वर्णों से भिन्न लोगों का उपनयन, अग्निहोत्रादि कर्मों का अधिकार सर्वथा शास्त्रविरुद्ध है।

★

जाति क्या है

सामान्य रूप से नित्य, अनेकसमवेत धर्म 'जाति' पद से व्यपदेश्य होता है। अनेक गो-व्यक्तियों में समवेत, नित्य गोत्व-धर्म जाति है। यह धर्म ही अपने धर्मी का सजातीय, विजातीय व्यावर्त्तन भी कर देता है। गोत्वधर्म विजातीय घटादि और सजातीय अश्व-महिषादि से गौ को व्यावर्त्तित कर देता हैं। बहुधा आकृतिभेद से जातिभेद की मान्यता चलती है, परन्तु शास्त्रीय दृष्टि से आकृतिभेद न रहने पर भी ब्राह्मण, क्षत्रि-यदि वर्णों में जातिभेद मान्य होता है। यहाँतक कि पाणिनीय व्याकरण की दृष्टि से जाति अर्थ में ही 'ब्राह्मण' शब्द सिद्ध होता है, अजाति में तो 'ब्राह्म' शब्द बनता है—"**ब्राह्मोऽजातौ।**" "ब्राह्मणी" आदि में 'ङीष्' प्रत्यय भी 'जातौ' अर्थ से ही होता है। '**आकृतिग्रहणा जातिः लिङ्गानाञ्च न सर्वभाक्। सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रञ्चचरणैः सह**॥" आकृति अर्थात् अनुगत संस्थानविशेष से जाति की व्यञ्जना होती हैं। यहाँ आकृति को उपदेश का उपलक्षण माना गया हैं। तथाच ईदृश आकारवाली वस्तु गौ हैं, इस प्रकार के उपदेश से गोत्वजाति का परिज्ञान होता है। इसी अंश की व्याख्या शेष कारिका में की गयी। जो असर्वलिङ्गभागी हो और एक बार के उपदेश से अनुगतरूपेण ग्राह्य हो, वही जाति। '**असर्वलिङ्गभागित्वे सति सकृदुपदेशग्राह्यत्वम्**' ही जाति हैं। 'ब्राह्मणः', 'वृषलः' आदि शब्द पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्गवाले होने पर भी नपुंसकलिङ्गवाले नहीं हैं, अतः असर्वलिङ्गभागी हैं। साथ ही 'अयं ब्राह्मणः' इस उपदेश से उसके पितृ-पितामहादिकों में भी ब्राह्मणत्व का ज्ञान हो जाता हैं। 'अयं वृषलः' ऐसे उपदेश से वृषल के पुत्र, पौत्र,

सहोदरादि में वृषलत्व का ज्ञान हो जाता है। अतः इनमें अनुगत-संस्थान आकृति अनुपलब्ध होने पर भी जाति का व्यवहार होता है।

संस्थानव्यङ्ग्य गोत्वादि जाति या उपदेशगम्य ब्राह्मणादि जाति जन्म से ही होती हैं। साथ ही जाति यावद्द्रव्यभावी, असर्वलिङ्गभागिनी तथा अनेकानुगत होती है। **"आविर्भाव-विनाशाभ्यां सत्वस्य युगपद्गुणैः। असर्वलिंगां बह्वर्थां तां जातिं कवयो विदुः"** (महाभाष्य)। जैसे गुण के बिना द्रव्य नहीं रहता, वैसे ही जाति के बिना भी द्रव्य नहीं रहता। इसीलिए द्रव्य के रहते जैसे गुण का नाश नहीं होता, वैसे जाति का भी नाश नहीं होता। इसीलिए मृत हरिण-शरीर को भी हरिण ही कहा जाता है। क्षत्रियगुण-कर्मवाले द्रोण, कृप अश्वत्थामा आदि को ब्राह्मण ही कहा गया और ब्राह्मण-गुण-कर्म वाले युधिष्ठिरादि को भी क्षत्रिय ही कहा गया है। ब्राह्मणगुण-कर्मानुसार अर्जुन संन्यास में प्रवृत्त होना चाहता था, परन्तु भगवान् ने उसे रोका और कहा कि 'यदि तुम धर्म-युक्त संग्राम में प्रवृत्त न होंगे, तो अवश्य पाप के भागी होंगे।' शुभाशुभ कर्मों के अनुसार ही जैसे शूकर, कूकर, देव, मनुष्यादि जन्म प्राप्त होते हैं, आकस्मिक नहीं है; वैसे ही शुभाशुभ कर्मों के अनुसार ही ब्राह्मणादि जन्म प्राप्त होते हैं। **'तद्य इह रमणीयचरणास्ते ब्राह्मणयोनिं क्षत्रिययोनिं वैश्ययोनिंवा आपद्य रन्'** अर्थात् शुभाचार वाले प्राणी ब्राह्मणादि योनियों को प्राप्त होते हैं, अशुभाचारवाले चाण्डालादि और पश्वादि योनि को प्राप्त होते हैं। कर्मों के अनुसार ही जैसे हरिण-हरिणी से हरिण उत्पन्न होते हैं, वैसे ही ब्राह्मण-ब्राह्मणी से ब्राह्मण उत्पन्न होता है। असवर्ण विवाह आदि से साङ्कर्यसृष्टि भी होती है। जन्मना जाति के आधार पर ही फिर जात्यनुसारी

कर्म चलते हैं। इसीलिए ब्राह्मणकर्म, क्षत्रियकर्म, वैश्यकर्म, शूद्रकर्म, स्त्रीकर्म, पुरुषकर्म की व्यवस्था होती है। जन्ममूलक वर्णव्यवस्था होती है और वर्णाश्रमव्यवस्था के अनुसार कर्म-धर्म की व्यवस्था होती है। जन्मना वर्ण और कर्मणा उत्कर्ष यही व्यावहारिक स्थिति है। योनि, विद्या और तप ब्राह्मण का कारण होता है। विद्या, तप के बिना भी 'जाति-ब्राह्मण्य' होता है। योनि के बिना विद्या, तप से 'सिंहो माणवकः' के समान गौण ब्राह्मण्य आता है। सिंह-सिंही से जन्म एवं शौर्य न होने से जातिसिंहत्व का व्यवहार होता है। सिंह-सिंही से जन्म न होने पर शौर्यादिगुणयोग से भी गौण सिंहत्व का व्यवहार होता है।

"जन्मना प्राप्यते सा जातिः"—जाति मुख्यरूप से जन्मना ही होती है, फिर भी कहीं-कहीं देश के नाम से जाति का व्यवहार होता है। परन्तु इसका कारण यह है कि देश के सम्बन्ध से जातिव्यञ्जक संस्थिति में विशेषता आती है। विभिन्न देशों के जल, वायु आदि के प्रभाव से रङ्ग, रूप और बनावट में भेद पड़ता है। अमुक-अमुक जङ्गल के हाथियों और शेरों में भी इसी दृष्टि से भेद दिखाई देता है। अतः उन-उन देशों और जङ्गलों के नाम से उन-उन हाथियों एवं शेरों की जाति का व्यवहार होता है। इसी तरह घोड़ों, गायों में भी देशादि-भेद से कुछ उनकी बनावट, रचना आदि में अवान्तर भेद प्रतीत होता है। व्रीहि, गोधूमादि अन्नों और आम्रादि फलों पर भी देश का प्रभाव कुछ अंशों में पड़ता है। काल का भी प्रभाव कुछ अंशों में पड़ता है। अमुक महीने के व्रीहि की अमुक जाति, अमुक महीने के व्रीहि, आम्रादि की अमुक-अमुक जातियां होती हैं। इन सब बातों का प्रभाव मनुष्यों पर भी पड़ता है। इसीलिए चीनी, जापानी, बर्मी, इंग्लिश, अफ्रीकी मनुष्यों के भी रूप, रङ्ग, बनावट का भेद उपलब्ध होता है।

इसी संस्थानभेद से व्यङ्ग्य होने के कारण इनमें जाति भेद की कल्पना होती है, इतना ही क्यों, भारत में भी नेपाली, मैथिल पंजाबी, द्रविड़, बंगाली, उत्कल, मरहठे, मद्रासी मनुष्यों में भी बनावट का भेद उपलब्ध होता है।

यावद्द्रव्यभावी होने के कारण देशादिजन्य विशेषताओं के कारण जातिभेद की कल्पना चल सकती है। परन्तु ब्राह्मणत्वादि जाति संस्थान-व्यङ्ग्य नहीं है, वह साक्षात् उपदेश-व्यङ्ग्य होती है। यही कारण है कि भारत के विभिन्न भागों के मनुष्यों में बनावट का भेद होने पर भी ब्राह्मणत्वादि मैथिल, पंजाबी, बङ्गाली आदि सबमें बराबर है। तन्मूलक धर्म भी समान ही है। इसी तरह बनावट में एक-से होने पर भी उनमें क्षत्रिय, ब्राह्मणादि भेद होता है, तन्मूलक धर्म में भी भेद होता है। देशादिकृत विशेषताएं व्याप्य हैं, ब्राह्मणत्वादि उनकी अपेक्षा व्यापक हैं। शास्त्रों ने तो पशु, पक्षी, पाषाणादि में भी ब्राह्मणत्वादि भेद मान रखा है। उपदेशव्यङ्ग्य जाति में भी विशेषताएं हैं हां, किन्तु उनका स्वरूप सूक्ष्म है, संस्थान (बनावट) आदि के समान वे सर्वसाधारणगम्य नहीं होतीं। जैसे आम्रत्व, निम्बत्व का भेद सर्वग्राह्य है, फिर भी आमों के अवान्तर भेद दुर्गम हैं। जिनमें बनावट का भेद है, उनका भेद ग्राह्य होने पर भी जहाँ बनावट का भेद नहीं है, वहाँ रसभेद से भेद ज्ञात है। कहीं रसभेद भी नहीं ज्ञात होता किन्तु वीर्य-विपाकादि परिणामभेद से भेद विज्ञात होता है। इसी तरह विराट् पुरुष की मुख, बाहु, उरु, पाद की तत्तद्विशिष्ट शक्तियों से उत्पन्न ब्राह्मणादि की विशेषताएं भी प्रत्यक्षानुमानगम्य न होने पर भी आर्षज्ञानगम्य है। उनके रक्तादि में बाह्य भेद न होने पर भी तत्तच्छक्तिविशेष विशिष्टत्व का बोध परम्परा के उपदेश से गम्य है।

चीनी, जापानी, इंग्लिश आदिजाति भेद भी केवल निवास के आधार पर नहीं होते, अपितु परम्परा से निवासियों में वहां के जल-वायु से प्रभावित होने पर रूप, रङ्ग, बनावट में प्रभाव के कारण ही जाति व्यवहार होता है। इसीलिए दूसरे देश का निवासी कुछ दिनों से दूसरे देश में रहने भी लग जायं, तब भी उसकी जाति उस देश से व्यवहृत नहीं होती। अंग्रेज भारत में रहें या चीन में रहें, तब भी वे भारतीय या चीनी नहीं कहला सकते। इसी तरह यदि कोई हिन्द या भारत का परम्परा से निवासी हो, वहाँ के जल, वायु का उसकी बनावट पर प्रभाव हो, तभी वह हिन्दो या भारतीय कहा जा सकेगा। आजकल की नागरिकता की कथा इससे सर्वथा भिन्न है। वह तो सरकारों की मान्यता के ऊपर निर्भर होती है, उसमें किसी प्राकृतिक भेद की बात नहीं होती।

प्राकृतिक आधार पर जो भेद होते हैं, वे मान्यता या विश्वास पर आधृत नहीं होते। जो चीन का परम्परया निवासी है और वहाँ के जल-वायु से जिसकी रचना, रूप, रङ्ग, बनावट प्रभावित हैं, वह चीनी है, चाहे वह बौद्ध हो, मुसलमान हो, चाहे हिन्दू हो। वह चाहे चीन की भुमि को पितृभूमि, पुण्यभूमि मानता हो या चाहे देशद्रोही हो, सर्वथा चीनी ही कहलायेगा। इसी तरह यदि कोई परम्परा से भारत-निवासी एवं भारत के जल-वायु से प्रभावित एवं भारतीय रूप, रङ्ग, बनावटवाला होगा, तो उसे जो भी नाम दिया जायगा—हिन्दी, हिन्दू या भारतीय—वह अनिवार्य रूप से वही कहा जायगा। उसमें विश्वास और मान्यता के कारण कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा, चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, देशद्रोही हो या देशभक्त; वह वही कहलायेगा। कोई देश को पितृभूमि पुण्यभूमि माने अथवा न माने, उससे उसकी देशकृत जाति में कोई अन्तर नहीं पड़ सकता।

वर्तमान काल में जो हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि का व्यवहार चल रहा है, वह धर्मभेद के आधार पर है। इसीलिए देश की दृष्टि से वह किसी जाति का हो, जो धर्म मानता है उसी धर्म का वह माना जाता है। धीरे-धीरे उन-उन धर्मानुयायियों में भी जाति का व्यवहार चल पड़ा है। यहाँ भी अनेकसमवेत, एक, नित्य धर्म में जातिव्यपदेश सम्भव है ही। कुरानादि प्रोक्त धर्मानुयायित्व मुसलमानत्व और वेदादिशास्त्र प्रोक्त धर्मानुयायित्व हिन्दुत्व आदि धर्म एक और अनेकसमवेत हैं ही इसमें एक ही गड़बड़ी रहती है और वह यह कि आजकल यह नित्य नहीं है। अन्यधर्मानुयायी कालान्तर में अन्यधर्मानुयायी भी बन सकता है। ईसाई से मुसलमान और मुसलमान से ईसाई बनते रहते हैं। अतएव यावद्द्रव्य-भावित्व भी इसमें नहीं है, इसीलिए इसे जाति कहने में कठिनाई पड़ती है। परन्तु वैदिकों में जन्मानुसार वर्णव्यवस्था और तदनुसार ही धर्मव्यवस्था होती है। अतः धर्मानुयायित्व भी यावद्द्रव्य-भावी है, इसलिए उस में जाति व्यवहार हो सकता है। भेद इतना ही है कि स्वगुण-कर्मच्युत शौर्य-कौर्यविहीन सिंह जैसे भ्रष्ट या अधम सिंह कहलाता है, वैसे ही स्वधर्मविमुख हिन्दू भ्रष्ट या अधम हिन्दू कहलायेगा।

वेदों में 'सिन्धवः' शब्द आता है, वह सिन्धुनदी के पार्श्ववर्ती देशों एवं तन्निवासियों के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। वेदों में सकार के स्थान में हकार का भी प्रयोग हो जाया करता है। इस सम्बन्ध में 'सरस्वती' 'हरस्वती' आदि वैदिक उदाहरण हैं। 'केसरी' का 'केहरी' आदि लौकिक उदाहरण भी प्रसिद्ध हैं। तथा च 'शिन्धु'—'सिन्धवः', 'हिन्धुः'—'हिन्धवः' व्यवहार चलने लगा। धकार का परिवर्तन कालक्रम से दकार-रूप में हुआ। नाम चल पड़ा। 'सिन्धु' शब्द का लक्षणा से सिन्धु समीपस्थ देश अर्थ फिर हिन्दू हुआ। 'गङ्गायां घोषः'

उदाहरण में प्रसिद्ध है कि गङ्गातट ही जहती लक्षणा से गङ्गा शब्द का अर्थ है, वही घोष (आभीरपल्ली) सम्भव है। इसी तरह सिन्धुपार्श्ववर्त्ती देश सिन्धु शब्द का जहती लक्षणा से अर्थ हुआ। जैसे 'मञ्चाः क्रोशन्ति' इस प्रयोग में अजहती लक्षणा से मञ्च का अर्थ मञ्चस्थ पुरुष होता है, वैसे ही सिन्धुदेश-निवासी भी सिन्धु शब्द का अर्थ होता है। इस दृष्टि से सिन्धु नदी के इस पार समुद्रतट तक और उस पार भी समुद्र तट तक के निवासी हिन्दू कहे जा सकते हैं यही भारत-वर्ष हुआ।

यहां अनादिकाल से जन्मना वर्णव्यवस्था एवं तदनुसारी वैदिक धर्म प्रचलित था, अतः वैदिकधर्मानुयायी हिन्दू हुए। यही सृष्टिस्थल भी है। यहीं से अन्यान्य जातियों एवं धर्मों का अन्यान्य देशों में प्रसार हुआ है। जो धर्मविमुख हो गये, वे भ्रष्ट हिन्दू ही अन्य नामों से व्यवहृत होने लग गये। उनके अलग-अलग धर्म भी हो गये। उन्हीं हिन्दुओं के गुणों को लेकर हिन्दू की परिभाषा 'मेरुतन्त्र', 'मेदिनी-कोष' आदि में की गयी है—हीनं दूषयति हिंसकान् कृन्तति वा हिन्दुः हिनस्ति दुष्टान् वा अर्थात् हीन या अधर्म को जो दूषित करे, जाति-बहिष्कृत करें, वह हिन्दू है या हिंसक को जो दण्ड दे, वह हिन्दू है अथवा दुष्टों का जो हनन करे वह हिन्दू है। हीनता, हिंसा, दोष आदि का ज्ञान अपौरुषेय वेदादि शास्त्रों से ही होता है, अतः वेदादिशास्त्रानुसारी हिन्दू हुए। वेदादिशास्त्र-प्रोक्त धर्म ही हिन्दूधर्म है। हिन्दूधर्मप्रलोप्तारो स 'मेरुतन्त्र' में हिन्दूधर्मपद से वेदादिशास्त्रोक्त धर्म ही विवक्षित है।

हिन्दू, हीनता, दोष अथवा हिंसा को वेदादिशास्त्रानुसार जानकर वेदादिशास्त्रानुसार ही दण्ड देता है, दुष्ट का हनन करता है, क्योंकि वेद ही अपौरुषेय अतएव समस्त पुंदोष-

शङ्काकलङ्कशून्य ईश्वरीय ग्रन्थ है। अतः वैदिकधर्मानुयायित्व ही हिन्दुत्व है, यह निर्गलित अर्थ हुआ। यहीं प्रथम सृष्टि हुई, अतः यहींके लोग ही अन्यत्र जाकर बसे। अतएव मूलतः सभी हिन्दू हुए। कालक्रम से अनेक कारणों से स्वधर्मविमुख होने से भ्रष्ट हिन्दू ही अन्यान्यदेशनिवासी, अन्यान्यधर्मानुयायी होकर अन्यान्य जाति के कहे जाने लगे—"**वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च।**"

जैसे प्राण के द्वारा शरीरस्थिति होती है, वैसे ही धर्म से विराट् की स्थिति होती है—"**धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा।**" भारतवर्ष में ही उस धर्म का सार्वदिक् रूप से अवस्थान है, यहीं अनादि अपौरुषेय मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदों का प्रादुर्भाव हुआ है। मोहिनजोदड़ो, हरप्पा आदि खण्डहरों से यह सिद्ध हो गया है कि सबसे प्राचीन संस्कृति 'वैदिक संस्कृति' है। मन्वादि धर्मशास्त्रों से तो वेदों की अनादिता, अपौरुषेयता सिद्ध है ही। संसार के सभी ग्रन्थ पौरुषेय हैं, केवल वेद ही अपौरुषेय हैं। वेदों की सर्वप्राचीनता तो सिद्ध है ही। उन वेदों में भारत की सिन्धु आदि विभिन्न नदियों का वर्णन है। हिन्दू-धर्म ही पारसी, यहूदी, ईसाई, मुसलमान आदि में क्रमेण विकृतरूप से उपलब्ध हो रहा है। देशकृत जाति की दृष्टि से भी सभी जातियाँ मूलतः हिन्दू हैं, क्योंकि यहीं प्रथम सृष्टि हुई है, यहीं से अन्यत्र देशों के मनुष्यों का प्रसार हुआ है। वेद एवं तदनुसारी धर्म भी मूलतः सबका ही है, क्योंकि ईश्वरीय शास्त्र एवं धर्म वही है। जन्मना वर्णव्यवस्था भारत में ही अवशिष्ट है; अतः वर्णाश्रमानुसारी श्रौत-स्मार्त धर्म भी यहीं अवशिष्ट है।

वास्तविक जन्मना वर्णव्यवस्था विदेशियों के यहाँ यद्यपि लुप्त हो गयी है, तथापि यह उचित है कि वे भी केवल व्यव-

हारोपयोगी ज्ञानप्रधान, बलप्रधान, धनप्रधान, शिल्प-सेवादि-प्रधान समूहों की एक बार गुणकर्मानुसार ब्राह्मणादि-वर्ण-व्यवस्था चलाकर उसे जन्मना सुस्थिर करें और आपस में ही भोजन, विवाहादि करते हुए त्रिशल्लक्षण सनातनधर्म का पालन करें। परन्तु जन्मना वर्णव्यवस्था के लुप्त हो जाने तथा उप-नयन-परम्परा के नष्ट होने के कारण वे वेदाध्ययन तथा तदुक्त श्रौत-कर्मों के अनुष्ठानार्ह नहीं रहेंगे। तो भी त्रिशल्लक्षण धर्म-पालन से वे गति वही पा सकेंगे, जो वैदिकों को प्राप्त हो सकेगी। उनके कल्याण के लिए वेदों के ही सारभूत तत्वों से रामायण, महाभारतादि आर्ष ग्रन्थ बने हैं। उनके श्रवण तथा विभिन्न भाषाओं में अनूदित ग्रन्थों का अध्ययन करके उन्हीं दिव्य सामाजिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, राजनीतिक तत्वों का ज्ञान उन्हें प्राप्त हो सकता है। इसी दृष्टि से भारतवासी होने पर भी, रूप, रङ्ग, बनावट एक ढंग की होने पर भी, दैशिक दृष्टि से चीनी, इङ्गलिश आदि के समान एक भारतीय या हिन्दी जाति की दृष्टि से एक जाति के होते हुए भी धर्म की दृष्टि से उनमें हिन्दू, मुसलमान आदि भेद हो सकता है।

आचार, विचार, भाषा, कला, विश्वासआदि शिक्षा, सङ्ग, देशाटन आदि से बदलते रहते हैं। देश के आधार पर रूप, रङ्ग, बनावट से होने वाली जातियों पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। धर्ममूलक जातियों पर ही इन बातों का प्रभाव पड़ता है। बीजाङ्कुर-न्याय से प्राणियों के जन्म-कर्म की परम्परा अनादि है। स्वप्न-जागर, जन्म-मरण, सृष्टि-प्रलय की परम्परा भी अनादि है। इस अनादि विश्व का नियामक अनादि परमेश्वर है। उसके नःश्वासभूत अकृत्रिम वेद एवं तदनुसारि आर्ष धर्मग्रन्थ विश्व का विधान या कानून है। तद्विहित कर्मादि ही धर्म है। तत्प्रतिपालिक जाति हिन्दूजाति है।

इस दृष्टि से 'हिन्दूकानून से जो शासित हों, वे हिन्दू हैं' यह परिभाषा भी इसी आधार पर ठीक है, क्योंकि 'हिन्दू ला' का आधार मिताक्षरा, दायभाग, व्यवहारमयूखादि निबन्ध-ग्रन्थ हैं। उनका भी आधार मन्वादि धर्मशास्त्र और उनका भी आधार वेदादि शास्त्र हैं। जात्या हिन्दू भी व्यावहारिक दृष्टि से तब तक हिन्दू माना जाता है, जब तक विरोधी धर्मान्तर ग्रहण नहीं कर लेता। इसी आशय से ईसाई, मुसलिम, यहूदी, पारसी से भिन्न लोगों को हिन्दू मानने की रीति चल रही है। सिख, जैन, बौद्ध वेदादि शास्त्र एवं तदनुसारी निबन्धानुयायी हैं तो हिन्दू ही हैं।

परन्तु आजकल, देश में अलग होने का भी एक रोग चल पड़ा है और उनको मानने के लिए परिभाषा को शिथिल करने, रबड़-छन्द की तरह बढ़ाने-घटाने का भी रोग चल रहा है। यह सामान्य नियम है कि अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भव दोषों से शून्य लक्षण या परिभाषाएं प्रत्यक्ष लक्ष्यों में प्रत्यक्षानुसार बनायी जाती हैं। जैसे गौ प्रत्यक्ष लक्ष्य है, सास्नादिमत्त्व लक्षण प्रत्यक्षानुसारी है। जिसमें सास्ना (गलकम्बल) नहीं, वह गौ नहीं है। परन्तु जहाँ लक्ष्य का ज्ञान ही आगमादिजन्य होता है, वहाँ लक्षण भी आगमानुसारी ही होता है। जैसे शुद्ध संस्कृत शब्द सर्वज्ञकल्प महर्षियों को भले ही प्रत्यक्ष हों, परन्तु सर्वसाधारण को तो लक्षणों—व्याकरणसूत्रों—से ही वे ज्ञात होते हैं। अतः महर्षि लक्ष्यैकचक्षुष्क और साधारण लोग लक्षणैकचक्षुष्क होते हैं। आगमानुसारी लक्षण सुस्थिर होते हैं, मनमानी रबड़-छन्द के समान उनका घटाना-बढ़ाना सम्भव नहीं। इसका फल भी प्रत्यक्ष है कि लाखों वर्षों के ग्रन्थों का उन्हीं लक्षणानुसारी स्थिर लक्ष्यों के आधार पर अर्थ-निर्णय हो जाता है, कठिनाई नहीं पड़ती। अन्य भाषाओं में,

जहाँ लक्षण स्थिर नहीं, हजार वर्ष के भी ग्रन्थों का अर्थज्ञान दुर्लभ होता है। इसी तरह ब्राह्मणादि वर्ण एवं तदनुसारी धर्म शास्त्रगम्य है, अतः धर्ममूलक हिन्दू आदि जाति भी शास्त्रमूलक ही होनी चाहिये, उसकी परिभाषा भी शास्त्रानुसारिणी ही होनी चाहिये। अधिक संग्रह के लोभ से स्वच्छन्द की तरह परिभाषाओं को घटाना-बढ़ाना सर्वथा अनुचित है।

यद्यपि कहीं-कहीं देश के अनुसार जाति का नाम पड़ता है, जैसे कि 'मैथिल' आदि नाम मिथिला के सम्बन्ध से हुआ है, परन्तु 'मिथिला' नाम जाति के सम्बन्ध से नहीं हुआ है। कई स्थानों में जहाँ कोई भी नहीं रहता, उन प्रदेशों का भी कोई न कोई नाम कल्पित होता ही है। इस तरह देश-नामों के आधार पर ऐकान्तिक जातिकल्पना नहीं की जाति। यदि 'हिन्दू' शब्द धर्मविशिष्ट जाति का वाचक हो, तभी हिन्दुओं का निवास-स्थान होने से देश का नाम 'हिन्दुस्थान' होगा। परन्तु हिन्द-निवासी होने के कारण जाति का नाम हिन्दू माना जाय और हिन्दूनिवासस्थान होने से देश का नाम हिन्दुस्थान माना जाय, तब तो अन्योन्याश्रय दोष ध्रुव होगा। साथ ही हिन्दनिवासी अन्य लोगों को भी हिन्दू कहना पड़ेगा। अतः हिन्दूलक्षण अतिव्याप्त भी होगा।

कई लोग हिमालय के 'हि' और इन्दुसरोवर के 'न्दु' को जोड़कर प्रत्याहार-न्याय से 'हिन्दू' शब्द बनाते हैं अर्थात् हिमालय से लेकर इन्दुसरोवर (कुमारी अन्तरीप) तक का देश हिन्दुस्थान है—"हिमालयं समारभ्य यावदिन्दुसरोवरम्। तं देवनिर्मितं देशं हिन्दुस्थानं प्रचक्षते॥" अस्तु, 'सिन्धवः' इस वैदिक शब्द के आधार पर अथवा 'हीनं दूषयते' इत्यादि व्युत्पत्तियों के आधार पर हिन्दूशब्द धर्मविशिष्ट जाति का ही वाचक है।

कुछ लोग हिन्दू जाति की इस प्रामाणिक एवं निश्चित परिभाषा तथा उसके निश्चित नियम को ही उसके पतन या ह्रास का कारण कहते हैं। उनकी दृष्टि में 'जाति-बहिष्कार की प्रथा सर्वथा बन्द होनी चाहिये। लक्षण अधिकाधिक सङ्ग्राहक होने चाहिये, नियम सरल होने चाहिये, वे भी शिथिल होने चाहिये, नियमोल्लङ्घन करनेवालों को क्षमा कर देना चाहिये, अनुशासन की कार्यवाही नहीं करनी चाहिये। हिन्दू-शास्त्रों और धर्म में भी नये सुधार-परिष्कार होने चाहिये।' इसी आशय से नयी स्मृतियों और 'हिन्दूकोड' की आवश्यकता बतलायी जा रही है। विकाशवाद के अनुसार यह सब ठीक ही है; क्योंकि उसके अनुसार अभी तक ज्ञानक्रियाशक्ति का पूर्ण विकाश हुआ ही नहीं है। अतः कोई भी सर्वज्ञ हुआ नहीं है। फिर कोई भी शास्त्र, कोई भी धर्म, कोई भी परिभाषा या कोई भी नियम पूर्ण कैसे माना जाय? फिर उत्तरोत्तर परिष्कार-सुधार आदि आवश्यक ही हैं। परन्तु जो परमेश्वर को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् मानते हैं, रेल तार, रेडियो वायुयान, परमाणुबम बनानेवाले वैज्ञानिकों के मस्तिष्कों का भी निर्माता परमेश्वर को ही मानते हैं, उनकी दृष्टि में तो उस परमेश्वर के शास्त्रों एवं तदुक्त धर्मों से ही प्राणियों को कर्मानुसार सीमित ज्ञान-क्रियादि शक्तियाँ मिलती हैं। पूर्ण ज्ञान-क्रियादि शक्तियाँ तो परमेश्वर में ही हैं। उनकी दृष्टि में शास्त्र और धर्म स्थिर ही होना ठीक है; नियम भी स्थिर ही ठीक हैं; अनुशासनहीनता ही पतन का मूल है।

सुधारक हिन्दूहिमायती हिन्दुओं के नाशक ही हैं। ईसाई, मुसलमान भी कहते हैं कि 'हिन्दूधर्म कभी के लिए अवश्य लाभदायक था, परन्तु आज के देशकाल के लिए वह पुराना हो गया, अब समाज के सामने वे सड़े-गले नियम नहीं रखे जा सकते।' यही आधुनिक सुधारक भी कहते हैं कि 'दुनिया बहुत

आगे बढ़ गयी है, अब पुराने धर्म लाभदायक नहीं होंगे, दुनिया के बदलने के साथ-साथ अपने-आपको, समाज को, धर्म को बदलते चलना ही बुद्धिमानी है। आज वायुयान के जमाने में बैलगाड़ी से चलना, हाईड्रोजनबम के जमाने में पत्थरों के औजारों से लड़ना बुद्धिमानी नहीं है।' भेद इतना ही है कि ईसाई, मुसलमान जहाँ ईसाई एवं इस्लामधर्म तथा 'बाइबिल' और 'कुरान' को मानने का आग्रह करते है, वहाँ सुधारक उन्हें मानने को तैयार नहीं होते। वे शास्त्रों में सुधार या नया शास्त्र चाहते हैं। सामान्य जनता समझ लेती है कि ईसाई, मुसलमान और सुधारक हिन्दू एक ही बात कर रहे हैं। जब सुधारक भी नया शास्त्र बनाना आवश्यक समझते हैं, पुराने हिन्दूशास्त्र को लाभदायक नहीं समझते, तो फिर पुराने शास्त्रों को छोड़कर 'बाइबिल', 'कुरान' क्यों न मान लिये जाँय ? इस तरह फलतः सुधारक ईसाइयों, मुसलमानों के साथी बन जाते हैं।

परन्तु क्या ईसाई, मुसलमान और क्या सुधारक, सभीको समझ लेना चाहिये कि सत्य सिद्धान्त में प्राचीनता ही भूषण है, नवीनता नहीं। यदि नवीनता ही मान्य होगी, तब तो आज के लिए 'बाइबिल', 'कुरान' भी पुराने हो गये, ईसाइयत और इस्लामियत भी पुरानी हो गयी। वह भी सड़ गयी होगी, अब उनको अपेक्षा भी नया शास्त्र और नया सिद्धान्त बनाना ही आवश्यक होगा। इसी तरह विकाशवादी का विकाशवाद भी तो अब पुराना हो गया। जब उत्तरोत्तर के लोग अधिकाधिक विज्ञानी और पूर्व-पूर्व के लोग अल्पविज्ञानी या अज्ञानी हैं। तब तो पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र की अपेक्षा पिता, पितामह, प्रपितामह और शिष्य, प्रशिष्य की अपेक्षा गुरु, परमगुरु, परात्परगुरु आदि अज्ञानी ही होंगे। फिर उनकी बात भी कैसे मान्य होगी प्रत्यक्ष बात तो यह है कि आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधि-

भौतिक सभी विषयों में ज्ञान सीखन पड़ता है। फिर पिता और गुरु को अपनी अपेक्षा अज्ञ कहना कितना बड़ा अज्ञता है? जो विकाशवादी अपने पूर्वजों को बन्दर मानते हैं, उन्हें यह समझ लेना होगा कि यदि उनके पूर्वज बन्दर थे, तो वे भी बन्दर ही हैं, क्योंकि बन्दर की सन्तान सिंह कहीं भी दृष्टि-गोचर नहीं होती। अतएव चन्द्र सूर्य, आकाश, वायु, भूमि, आत्मा आदि अपरिगणित प्राचीन वस्तुओं का सम्मान किया जाता है; क्षुधा-पिपासा-निवृत्त्यर्थं अन्न-जल ग्रहण किया जाता है, सन्तानसुखार्थं भार्य्यासङ्ग्रहादि आज भी करना ही पड़ता है। नवीन भी प्लेग, विषूचिका आदि महामारियों से सभीको उद्वेग होता है। अतः सत्य सिद्धान्तों, शास्त्रों, तदुक्त धर्मों की प्राचीनता ही नहीं अनादिता एवं नित्यता भी मान्य होती है। धर्म की परिभाषा, स्वरूप और प्रमाण सुस्थिर हैं। उनमें रद्दो-बदल अत्यन्त असङ्गत है। शास्त्रों ने देश, काल, परिस्थिति के अनुसार जो परिवर्तन बतलाये हैं, वे तो व्यवस्थित हैं। जैसे हर ग्रीष्म, शीत और वर्षा के परिवर्तन भी प्रवाह रूप से नित्य ही हैं। उनके पृथक् विधान भी उसी रूप में नित्य ही हैं। अतः परिवर्तनवादी हिन्दू हितकारी नहीं, अपितु मूलघाती ही हैं।

हिन्दुत्व का आधार

कुछ लोग आधुनिक लोगों के द्वारा प्रचारित साम्प्रदायिकता से घबड़ाकर हिन्दुत्व और साम्प्रदायिकता का भेद सिद्ध करने के लिए आकाश-पाताल का कुलाबा मिड़ाते हैं। वे नहीं जानते कि आधुनिक लोग अनुचित दलबन्दी, नाजायज गिरोहबन्दी को ही "सम्प्रदाय" कहते हैं। परन्तु "सम्प्रदाय" शब्द का अर्थ ऐसा नहीं, अपितु ज्ञान, उपासना, कर्मकाण्ड आदि की अनादि अविच्छिन्न आचार्यपरम्परा को "सम्प्रदाय" कहा जाता है। हमारे यहाँ साम्प्रदायिकता गौरव की चीज है, लज्जा की बात नहीं। "तुल्य साम्प्रदायिकम्" (जै. सू.) के अनुसार साम्प्रदायिक होने से ही ब्राह्मण भाग की मन्त्रभागवत् अपौरुषेयता, अनादिता सिद्ध की गयी है। शुद्ध वैदिक-सम्प्रदायनिष्ठ व्यक्ति ही "हिन्दू" होता है।

जो लोग कहते हैं कि "सिन्धु से लेकर सिन्धुपर्यन्त भारत भूमि को जो पितृभू और पुण्यभू मानता है वही हिन्दू है"— **'आसिन्धोः सिन्धुपर्य्यन्ता यस्य भारतभूमिका। पितृभूः पुण्यभूश्चैव स वै हिन्दूरिति स्मृतः ॥"** यह परिभाषा अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दोषों से पूर्ण हैं। इसके अनुसार प्राचीनकाल के वे हिन्दू, जो दूसरे द्वीपों में रहते थे, हिन्दू ही नहीं कहे जा सकते हिन्दू-शास्त्रों के अनुसार तो वैदिक ही हिन्दू थे। वेदों के आधार पर परमेश्वर सृष्टि रचता है। अतः वेद अनादि हैं। कहीं भी उत्पन्न होनेवाला किसी भी देश को पितृभू और पुण्यभू माननेवाला हिन्दू हो सकता है, केवल वह वैदिकधर्मानुयायी होना चाहिये। मुसलमान, ईसाइयों ने भी धर्म के

आधार पर ही जाति की कल्पना की है। इस्लाम एवं ईसाई-धर्मविश्वासी कोई भी और कहीं भी हो, मुसलमान या ईसाई कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त देश की सीमाएं अव्यवस्थित हैं। इस आधार पर यदि जाति कल्पना करें तो, जाति भी अव्यवस्थित ही रहेगी। आज सिन्धु की कौन कहे—विपाशा, चन्द्रभागा, वितस्ता इरावती नदी भी भारत में नहीं है, वे पाकिस्तान में हैं। वहां के निवासी को व्यावहारिक रूप से क्या कहेंगे? किसी समय ईरान, अफगानिस्तान आदि भी भारत की ही सीमा में थे, जो सिन्धु से परे हैं। वहां के निवासियों और उसी भूमि को पितृभू, पुण्यभू माननेवालों को इस परिभाषा के अनुसार हिंदू कैसे कहा जायगा? इसी तरह यदि कोई ठीक हिन्दू धर्म का विरोधी भारत भूमि में बाहर से आकर बस जाय और यहां अपना अभिमत धर्मस्थान बना ले और इस भूमि को पितृभूमि और पुण्यभूमि मानने लग जाय, तो उसे भी 'हिन्दू' कहना पड़ेगा।

इतना ही क्यों, मुसलमान भी इस देश को पितृभूमि और पुण्यभूमि मानते हैं। उनके अनेक धर्मस्थान यहां हैं ही, उन्हें वे पुण्यभूमि मानते ही हैं फिर उनमें यह लक्षण अतिव्याप्त ही होगा। कुछ लोग कहते हैं कि 'पुण्यभूमि का अर्थ धर्म की उत्पत्ति का स्थान है। परंतु तब भी, यह परिभाषा अनुचित होगी। वैदिकों का सनातनधर्म नित्य है, वह कहीं भी उत्पन्न नहीं हुआ। अतः यह सनातनधर्म की उत्पत्ति की भूमि नहीं है। इस दृष्टि से सनातन धर्मी ही हिंदू न कहे जा सकेंगे। फिर प्रश्न यह होगा कि पितृभूमि, पुण्यभूमि, दोनों जो माने, वही हिंदू अथवा दोनों में से एक भी माननेवाला हिंदू है? कुछ लोग चीनी, जापानी बौद्धों को 'हिंदू' सिद्ध करने के

लिए एक ही पर्याप्त मानते हैं—उनकी पितृभूमि यद्यपि भारत नहीं है, तथापि उनका धर्म भारत में ही उत्पन्न हुआ, अतः वे भी हिंदू हैं। परंतु यदि एक-एक भी लक्षण माना जाय तब तो पितृभूमि मात्र मानने से भी कोई हिंदू हो सकेगा। मुसलमानों का धर्म भले ही यहां न उत्पन्न हुआ हो, तथापि उनकी भी पितृभूमि भारत है ही।

वस्तुतः ये सब निष्प्रमाण लक्षण हैं और केवल संख्या बढ़ाने की दृष्टि से ही गढ़े जाते हैं। कहा जाता है कि 'भारत के वैदिक, चार्वाक, जैन सब हिन्दू कहे जायंगे।' परन्तु यदि पुण्यभूमि माननेवाला हिन्दू है, तब चार्वाक कैसे हिन्दू होगा, जबकि उसका परलोक ही नहीं? धर्माधर्म की मान्यता नहीं, तब तीर्थ और धर्म की चर्चा ही क्या? इस दृष्टि से धार्मिकता को लेकर ही इन पक्ष में भी कैसे हिंदुत्व की कल्पना होगी? फिर अधार्मिक चार्वाक हिन्दू कैसे होगा? इसके अतिरिक्त जब जैन, बौद्ध, चार्वाक भी हिन्दू इस नाते हैं कि वे भारत को पितृभूमि और पुण्यभूमि मानते हैं, तब मुसलमान भी यदि भारत को पितृभूमि और पुण्यभूलि मानें, तो अवश्य ही वे भी हिन्दू कहे जा सकेंगे। जैसे वैदिकों के पुण्य और तीर्थों को न मानते हुए भी जैन अपने तीर्थों और पुण्यों को मानने से ही हिन्दू होंगे, वैसे ही उपर्युक्त दोनों के तीर्थों और पुण्यों को न मानने पर भी स्वाभिमत पुण्य और तीर्थ मानने से मुसलमान भी हिन्दू कहे जा सकेंगे। काशी आदि से भिन्न तीर्थ मानने पर भी जैन हिंदू हैं तो काशी आदि से भिन्न अपनी मसजिदों—बहराइच आदि स्थानों—को तीर्थ मानने से भी मुसलमान हिंदू हो सकेंगे। इसलिए कई लोगों ने तो यहां तक भी कहा कि 'हिन्दुस्तान में रहनेवाला हिन्दू है।' फिर तो स्पष्ट है कि प्रादेशिकता हिन्दुत्व ठहरेगा। यदि बीच में धार्मिकता भी लाना चाहेंगे तो उसकी परम्परा भी माननी पड़ेगी और तथाकथित

साम्प्रदायिकता भी आ ही जायगी। अतः ये सब लक्षण असङ्गत हैं।

वास्तव में वेदादि धर्मशास्त्र और तदाधारित निबन्धानुयायित्व' हिन्दुत्व है। यदि कोई सर्वमान्य विशेषता और प्रमाण की अपेक्षा न हो तब तो वास्तविक सङ्ग्राहक लक्षण यही है कि 'गोभक्ति, प्रणवादिनाम पूजा, पुनर्जन्मविश्वास' हिन्दुत्व के प्रयोजक हो सकते हैं। जैन, बौद्ध, सिख हिन्दू सब में यह लक्षण सङ्गत हो जाता है—"गोषु भक्तिर्भवेद्यस्य प्रणवो दृढा मतिः। पुनर्जन्मनि विश्वासः स वै हिन्दूरिति स्मृतः॥" यों जैसे जातीयता के कारण अनुचित दुराग्रह और पक्षपात को तथा कथित 'साम्प्रदायिकता' कहा जा सकता है, वैसे ही प्रादेशिकता को लेकर अनुचित दुराग्रह को भी गिरोहबन्दी कहा जा सकता है। किसी एक के मतभेद के कारण दूसरों को मौत के घाट उतारने के दुराग्रह को ही तथा कथित 'साम्प्रदायिकता' कहा जा सकता है। समष्टि-हित का ध्यान रखते हुए व्यष्टि-हित का प्रयत्न अनुचित नहीं, परन्तु समष्टि-हित के विघातक व्यष्टि-समुन्नति के प्रयत्न हानिकारक होते हैं। व्यक्तिवाद, तथाकथित सम्प्रदायवाद, प्रदेशवाद या राष्ट्रवाद भी उसी तरह खतरनाक होते हैं। यों हिटलर का राष्ट्रवाद विश्वशान्ति के लिए अहितकर था, इसीलिए उसका अन्त सभी चाहते थे।

अब यहां विचारणीय विषय यह है कि धार्मिकता व्यापक है या प्रादेशिकता ? स्पष्ट है कि प्रादेशिकता बहुत ही क्षुद्र है। पहले तो भारत कितना बड़ा है, कौन है ? इसका भी पूरा निर्णय नहीं हो रहा है। पुराणों में ९ हजार योजन उसका परिमाण लिखा है, जिसका अभिप्राय आजकल का सारा संसार ही भारत है। फिर तो सभी व्यक्ति भारतीय या हिन्दू हैं। ईरान, कन्धार आदि तो कलतक भारत ही था। गान्धारी का खास सम्बन्ध गन्धार ही से था। यदि धार्मिकता हिन्दुत्व

है, तब तो विभिन्न देशों में उसकी व्याप्ति हो सकेगी। यदि प्रादेशिकता के अभिप्राय से हिन्दुत्व की व्याख्या की जाय, तो अधिक से अधिक भारत के राष्ट्रभक्त मनुष्य हिन्दु हो सकते हैं। तथाच इसकी क्षुद्रता स्पष्ट है। इस दृष्टि से विभिन्न द्वीपों और वर्षों के निवासी राजर्षिगण कथमपि हिन्दू न कहे जा सकेंगे। जो 'भारतीय राष्ट्रीय समाजवाद' को ही हिन्दुत्व मानते हैं, उनके मत से हिन्दुत्व केवल मिट्टी के कुछ टुकड़े मात्र से सम्बद्ध है। किन्तु अन्य देश, द्विप या वर्ष का नागरिक वैदिकधर्मावलम्बी भारतीय राष्ट्रीय समाज से अलग ही रहेगा फिर क्या वह 'हिन्दु' न रह सकेगा?